अध्यात्म-विकास

लेखक :
श्री 1008 स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज

अध्यात्म-विकास

लेखक :

स्वामी १००८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज

योग श्री पीठ ट्रस्ट प्रकाशन

मुनि-की-रेती, ऋषिकेश (उत्तराखंड)

अध्यात्म-विकास

प्रकाशक :
योगश्री पीठ ट्रस्ट (प्रकाशन)
मुनि- की - रेती,
पोस्ट. शिवानन्द नगर,
(टिहरी गढ़वाल) (उत्तराखंड)
दूरभाष : ०१३५-२४३०४६७

सर्वाधिकार प्रकाशक के सुरक्षित

प्रथम संस्करण	१०००	संवत् २००७ विक्रमी
द्वितीय संस्करण	१०००	संवत् २०२८ विक्रमी
तृतीय संस्करण	१०००	संवत् २०५० विक्रमी
चतुर्थ संस्करण	१०००	संवत् २०५० विक्रमी
पंचम संस्करण	१०००	संवत् २०७१ विक्रमी

मूल्य : ₹ 120/-

टाईप सैटिंग :
लक्की प्रिंटिंग प्रैस, ऊना (हि.प्र.)

मुद्रक :
ऐवरी प्रिंटर्ज़, जालन्धर (पंजाब)
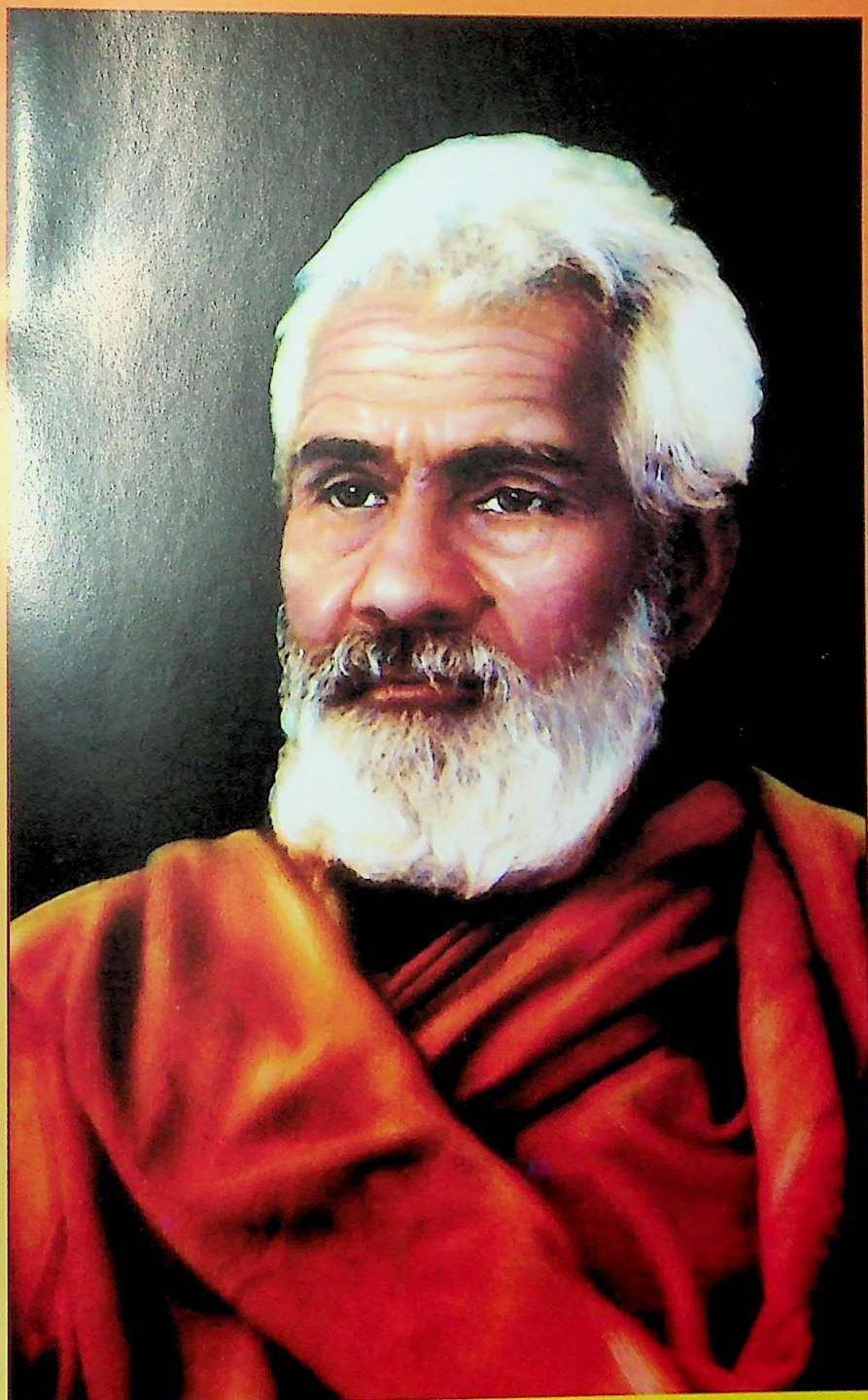
ब्रह्मलीन परम पूज्य सद्‌गुरुदेव श्री 1008 स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज

प्रथम संस्करण का प्रकाशकीय

अध्यात्म-जीवन पूर्वकालीन ऋषि, मुनि, योगी और ज्ञानियों के अतीन्द्रिय अनुभवों पर आधारित है जिन्होंने स्वयं दिव्य आत्मज्ञान का अनुभव करके परम शान्ति प्राप्त की और मानव-कल्याण के लिए इसके रहस्य को प्रकट किया।

हम अपने जीवन को भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक-तीन भागों में विभक्त देखते हैं। हमारा भौतिक जीवन भौतिक संसार से, मानसिक जीवन विचार जगत् से और आध्यात्मिक जीवन परमात्मा से सम्बन्धित एवं भव-बन्धन से मुक्तिदाता है जो मानव-जीवन का परम लक्ष्य है। मनुष्य जब अपने को इस जगत् में त्रस्त पाता है तो अपनी मुक्ति के लिए छटपटाता है। इसके लिए उसे पथ-प्रदर्शक सद्गुरु की आवश्यकता होती है।

भारत-भूमि आज भी महान् आत्माओं, तपस्विओं और ज्ञानियों से वंचित नहीं है, पर उन्हें खोजने के लिए लगन की आवश्यकता है—'जिन खोजा तिन पाइया।'

श्री १०८ पूज्यपाद स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज परिव्राजकाचार्य भी मातृभूमि के ऐसे ही महात्माओं में से एक हैं। मानव-कल्याण के लिए उनके अमूल्य उपदेश तथा लेख पथ-प्रदर्शक की भाँति हैं। उन्होंने अध्यात्म विषय पर अनेकों पुस्तकें लिखी हैं जिनमें से यह एक है। यह साधकों को ज्ञानवर्धक और आत्म-जिज्ञासुओं को पथ-प्रदर्शक प्रमाणित होगी, यह मेरी आशा है।

निवेदक
बांकेबिहारीलाल सक्सैना
देवास (मध्य भारत)

गुरु पूर्णिमा,
दिनाङ्क २९ जुलाई १९५०

दो शब्द

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण श्री बाँकेबिहारीलाल सक्सैना, रिटायर्ड हुजूर सैक्रेटरी, देवास (म.प्र.) की उदार सेवा से उन्हीं की ओर से प्रकाशित हुआ था। अब यह चतुर्थ संशोधित संस्करण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है।

२०-२५ वर्ष पूर्व की अपेक्षा वर्तमान में कागज एवं मुद्रण के व्यय लगभग चार-पाँच गुने बढ़ गये हैं, अतः तद्नुसार ही विवश होकर हमें पुस्तक का मूल्य भी बढ़ाना पड़ा है। जीवन के अन्य सब क्षेत्रों की भाँति इसे भी महँगाई के प्रभाव से अछूता रख पाना तो संभव नहीं हो सकता, परन्तु मूल्य न्यूनतम इतना ही रखा गया है जिससे भविष्य में भी प्रकाशन होता रह सके।

ब्रह्मलीन लेखक की विशद-दृष्टि-समन्वित यह पुस्तक आद्योपान्त साधन-सम्बन्धी रहस्यपूर्ण ज्ञातव्यों को उद्घाटित करती है। जितनी ही बार इस पुस्तक की मनन सहित आवृतियाँ की जायेंगी, उत्तरोत्तर भ्रान्ति एवं अज्ञान-तिमिर मिटता जायेगा, नवीनता एवम् ज्ञानोदय की अनुभूति साधकों को होती जायेगी। यही इस पुस्तक की विशेषता है।

पुस्तक की उपादेयता के सम्बन्ध में अधिक कुछ लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। जिज्ञासु साधक के एक बार मनन कर लेने से ही उसकी अनुभूति में पुस्तक की उपादेयता स्वयमेव अंकित हो जायेगी।

योगश्री पीठ ट्रस्ट,

रामनवमी संवत् २०५० वि०

– देवेन्द्र विज्ञानी

ॐ

प्रथम विकास

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषासह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवादि विश्रितः।।

—अथर्ववेद

हिन्दी वैदिक धर्म सबसे पुराना है। अन्य सब धर्म जो इस युग में प्रचलित हैं अथवा भविष्य में होंगे, उन सब का उदय वेदों से ही हुआ है, ऐसा मानना पड़ेगा, क्योंकि मानव-जाति को सबसे पहले धर्म और परमात्मा का ज्ञान बताने वाला कोई दूसरा प्रमाण नहीं मिलता। जो धार्मिक उपदेश किसी भी देश के नेता ने अपने अनुयाइयों को दिया है, वह वेदों के अन्तर्गत मौजूद है। ऐसा कोई धार्मिक उपदेश अथवा आध्यात्मिक विज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त नहीं मिलता जिसका मौलिक रूप वेदों में न मिलता हो।

वेदों के मुख्य तीन काण्ड हैं—१. संहिता अर्थात् प्रार्थना- काण्ड, जिसमें ऋक्, यजुर, साम और अथर्ववेद शामिल हैं, २. ब्राह्मण और अरण्यक अर्थात् कर्म-काण्ड, और ३. उप-निषद् अर्थात् ज्ञान-काण। इस समस्त साहित्य को श्रुतिवचन कहते हैं क्योंकि इनके शब्द ऋषियों ने दिव्यवाणी द्वारा ऐसे ही सुने थे। इनके अतिरिक्त सारा शास्त्र-साहित्य स्मृति कहलाता है, क्योंकि वह मेधा स्मृति से लिखा गया है। स्मृति-साहित्य के अन्तर्गत अनेक स्मृतियाँ, धर्म-सूत्र और दर्शनों का प्रदुर्भाव हुआ जिनका एक विशाल साहित्य-भण्डार संस्कृत भाषा की शोभा को बढ़ा रहा है। स्मृतियों में शौचाचार, सदाचार, संस्कृति एवं लोकाचार, राज्य-नीति, धर्म-नीति, समाज की रक्षा के लिए दण्ड-नीति और अन्य सामाजिक विषयों का समावेश है। धर्म-सूत्रों में आध्यात्मिक, धर्म एवं

कर्म-काण्ड और दर्शनों में विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन है।

वैदिक और दार्शनिक साहित्य के सर्वसाधारण की समझ में न आने के कारण सरल संस्कृत भाषा में ऐसे साहित्य की रचना हुई जिसको सामान्य थोड़े पढ़े लोग भी समझ सकें जिससे समाज का कोई अंङ्ग सामाजिक धार्मिक अथवा आध्यात्मिक शिक्षा से वञ्चित न रह जाय। उस साहित्य ने दो रूप धारण किये—१. तांत्रिक, २. पौराणिक। सब तंत्र योग-साधन और उपासना प्रधान हैं परन्तु पुराणों को कथानकों और ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर सदाचार एवं धर्म में रुचि उत्पन्न करने के लिए सर्व-साधारण की समझ में आने वाली शतिका, रोचक एवं भयानक — तीनों प्रकार की अति सरल और भावपूर्ण भाषा में लिखा गया है। देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न मतभेदों के कारण अपने-अपने अनुयाइयों के लाभार्थ १८ पुराण, १८ उपपुराण, रामायण और महाभारत के महान् साहित्य-भण्डार की रचना हुई जो आज भी हिन्दु जाति के गौरव का आधार बना हुआ है। भारतवर्ष जैसे विशाल देश की अनन्त विचारधाराओं को पूर्ति के लिए ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

अध्यात्म-विद्या के जिज्ञासुओं के लिए उपनिषद्, षड़दर्शन, और महाभारत रूपी क्षीर-सागर से निकाला हुआ श्रीमद्भगवद्गीतामृत का स्थान बहुत ऊँचा है। अन्य धर्मों की अपेक्षा वैदिक धर्म में एक विशेषता यह है कि वह अध्यात्म-पथ पर चलने वालों को भगवत्प्राप्ति का उपदेश करता है। अन्य धर्म मरण के पश्चात् स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा से ईश्वर-कृपा के लिए और अनिवार्य पापाचरण के क्षमादानार्थ उसके अनुग्रह के लिए पैगम्बरों और नबियों की सिफारिश और उनके सहारे की अपेक्षा रखते हैं। परन्तु हिन्दू धर्म के अनुसार पाप-पुण्य, धर्म-अधर्मयुक्त दोनों प्रकार के शुभाशुभ कर्मों से छुटकारा पाने का उपदेश किया जाता है।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

—गीता

यहाँ कृष्ण भगवान् को पैगम्बर या नवी की दृष्टि से नहीं माना गया है, वरन् यह उपदेश साक्षात् परमात्मा के मुख से ही कहलाया गया है।

पाप और पुण्य दोनों से छूटकर ही जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति मिल सकती है और उसके लिए मरने से पहले जीवन-काल में ही भगवत्प्राप्ति अर्थात् परमात्मा का साक्षात् कर लेना एकमात्र उपाय कहा गया है।

इह चेदशकद्बोद्धुम् प्राक् शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते।।

—*कठोपनिषद्* ६, ४

—"यदि यहाँ ही शरीर छूटने से पूर्व (ईश्वर को) नहीं जान सकता तो फिर संसार के लोकों में शरीर धारण करना पड़ेगा।"

पुण्य कर्मों के आचरण द्वारा पापों का त्याग होने पर ईश्वर का साक्षात्कार होता है और ईश्वर के अनुग्रह से पुण्यों से छूटकर मोक्ष पाता है। सब पुण्य कर्मों का फल अनन्य शरणागत बुद्धियुक्त होकर जब ईश्वर को समर्पण कर दिया जाता है, तब ईश्वर अनुग्रह करते हैं।

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

—यजुर्वेद

उस (परमात्मा) को जानकर ही मृत्यु के पार होता है, इसके सिवाय दूसरा मार्ग नहीं है। परमात्मा से मिलने को योग कहते हैं। मिलने पर भक्ति उत्पन्न होती है और भक्ति से यह जाना जाता है कि ईश्वर क्या है और कैसा है ? उसको तत्त्वतः जानने को ज्ञान कहते हैं। फिर उसको तत्त्वतः जानकर—'ब्रह्मवित् भवति'—इस ब्राह्मी गति को ही मोक्ष कहते हैं।

ईश्वर का स्वरूप क्या है और वह कौन है?—यह उपनिषदों में बड़े विस्तारपूर्वक दिखाया गया है। उपनिषदों के साहित्य को ही वेदान्त कहते हैं, क्योंकि ब्रह्म का तत्त्वतः ज्ञान प्राप्त करना ही वेदों का अन्तिम ध्येय है। प्रायः मनुष्य वेदान्त रूपी आध्यात्मिकता के शिखर पर चढ़ने की इच्छा करते हैं, परन्तु योग-उपासना रूपी सीढ़ियों की अवहेलना करते हैं। उपनिषदों के पढ़ने मात्र से ईश्वर का तत्त्वतः ज्ञान होना असम्भवप्रायः है। उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप समझाने के साथ-साथ उसकी प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार की योग-उपासना परक साधन-पद्धतियाँ भी हैं जो प्राचीनकाल में सर्वसाधारण में प्रचलित थीं, परन्तु अब उनका समझना

कठिन हो गया है। उनके स्थान पर अब अन्य पद्धतियों का प्रचार देखने में आता है।

ईश्वर सबका, अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड का अन्तरात्मा है। वह सबके हृदय में वास करता है और सबका नियन्ता और अन्तर्यामी है। परन्तु विषय-वासनाओं से मलीन चित्त पर उसका प्रकाश नहीं चमकता। ज्यों-ज्यों अन्तःकरण की शुद्धि होती है, वैसे ही वह चमकने लगता है। मन रूपी मानसरोवर में काम-क्रोध की आँधियाँ, आशा-तृष्णा की लहरें और सङ्कल्पों के भँवर चित्त को क्षुब्ध रखते हैं। इसलिए मनुष्य अपने अन्तर्हृदय में बसने वाले परमात्मा को नहीं जान पाता। छहों दर्शन उसको जानने का मार्ग दिखाते हैं। उनके नाम ये हैं—कणाद का वैशेषिक दर्शन, गौतम का न्याय दर्शन, कपिल का सांख्य दर्शन, पतञ्जलि का योग, जैमिनी का पूर्व मीमांसा और वेदव्यास का उत्तर मीमांसा जिसको ब्रह्मसूत्र अथवा वेदान्तदर्शन भी कहते हैं। ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में ब्रह्म-जिज्ञासुओं के लिए इनकी उपयोगिता नीचे दिखाई जाती है। हम यहाँ इस विषय पर श्री १०८ स्वामी सोमतीर्थ जी महाराजकृत १६ सूत्र उद्धृत करते हैं जिनको उद्धृत करने की आज्ञा श्री स्वामी जी ने पाठकों के लाभार्थ कृपा करके लेखक को प्रदान की है। हम इस कृपा के लिए उनके बड़े अनुगृहीत हैं :-

१—अथ षड्दर्शन सदुपयोग समन्वय सूत्रम्।

अब षड्दर्शनों के सदुपयोग के लिए उनके समन्वय पर सूत्र लिखते हैं।

२—गर्भाधान संस्कारादि वेदारम्भ पर्यन्त संस्कारैः संस्कृतो वेदं पठेत्।

गर्भाधान संस्कार से आरम्भ करके वेदों का पढ़ना आरम्भ करने (उपनयन संस्कार) पर्यन्त संस्कारों से शुद्ध द्विज-ब्रह्मचारी वेद पढ़ें।

३—अथ धर्म जिज्ञासा।

इससे अर्थात् वेदों के पढ़ने से उसमें कर्मोपासना के अनुष्ठान के लिए धर्म-जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

४—तत्र अथातो धर्मजिज्ञासा इत्यस्योपयोगः।

तब उसको पूर्वमीमांसा की उपयोगिता होती है। पूर्व मीमांसा—'अथातो धर्म जिज्ञासा'—इस प्रथम सूत्र से आरम्भ होता है।

५—कृत-धर्मानुष्ठान-शुद्धान्तःकरणः साधनचतुष्टयं सम्पादयेत्।

पूर्वमीमांसोक्त धर्म अनुष्ठान द्वारा शुद्धान्तकरण साधक विवेक, वैराग्य, शमदमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व—इस साधन चतुष्टय का सम्पादन करता है।

६—संजात मुमुक्षुर्ब्रह्मजिज्ञासुः स्यात्।

'तस्मादेवंवित् शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मनि एव आत्मानं पश्यति'। —बृहदारण्यक

तत्पश्चात्—'शान्त-दान्त, उपरत, तितिक्षु, समाहित होकर ही अपने आत्मा में आत्मा को देखता है'—इस श्रुति के अनुसार मोक्ष की इच्छा और ब्रह्मजिज्ञासा का उदय होता है।

७—अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इत्यस्यात्रोपयोगः।

तब 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस प्रथम सूत्र से आरम्भ होने वाले वेदान्तदर्शन की उपयोगिता होती है।

८—अस्त्यत्रांशत्रयम्।

९—श्रवणम् मननम् निदिध्यासनम् च।

उसके तीन अंङ्ग हैं—श्रवण, मनन और निदिध्यासन।

१०—श्रवणे सर्वे वेदान्ता उपयुक्ताः।

श्रवण के लिए सब वेदान्तों अर्थात् उपनिषदों की उपयोगिता है।

११—मनने न्याय वैशेषिकयोः सहकारिता।

मनन के लिए न्याय, वैशेषिक (कणाद) की सहकारिता होती है।

१२—क्वचित् पूर्व पक्षत्वेन।

१३—क्वचित् सिद्धान्त समर्थनात्।

कहीं पूर्व पक्ष उठाने के लिए और कहीं सिद्धान्त-पक्ष का समर्थन करने के लिए।

१४—निदिध्यासने सांख्ययोगयोरुपयोगः।

१५—तत्र तस्य समयग्विधानात्।

निदिध्यासन में सांख्य एवं योगदर्शन की उपयोगिता है क्योंकि वहाँ उस विषय का विधान अच्छी प्रकार किया गया है।

सांख्य में पुरुष-प्रकृति का भेद दिखाकर पुरुष को असङ्ग, नित्य,

शुद्ध, बुद्ध मुक्त-स्वभाव दिखाया गया है और उसको स्वरूप में स्थित करने के लिए योग की आवश्यकता होती है जो आत्मख्यातिस्वरूप पुरुष-ज्ञान की उपलब्धि के साधन बताता है। गीतोक्त 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्' जो योग की बहुत ऊँची विधि है, निदिध्यासन का ही रूप है।

१६—इति षड्दर्शन सदुपयोग समन्वयसूत्रम्।

छहों दर्शनों के समन्वयपूर्वक उनका सदुपयोग समझाने के लिए ये सूत्र कहे गये हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति और ज्ञान दोनों दृष्टिकोणों को सामने रखते हुए सब उपनिषद्, सांख्य, योग और वेदान्त का सुन्दर समन्वय किया गया है। गृहस्थाश्रमियों के लिए आसक्ति छोड़कर निष्काम कर्म द्वारा कर्मयोग का अनुष्ठान करते रहने के अमूल्य उपदेश को गीता में प्रधानता दी गई दीखती है। कर्मसंन्यास को फलसंन्यास की अपेक्षा गौण बताया गया है और जब तक आत्मरमण, आत्मतृप्ति और आत्मतुष्टि का उदय नहीं होता, कर्म करते रहने का आग्रह किया गया है जिसका प्रमाण श्रुति भी इन शब्दों में देती है —

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।'

—यजुर्वेद

वेदों की छत्रछाया तले सहस्रों मत-मतान्तर फलते-फूलते रहे हैं जिनके अनुयाइयों की संख्या अद्यापि करोड़ों में है। अनेक सम्प्रदाय तो इतने प्रचलित हैं कि उनका पारस्परिक भेद दार्शनिक विद्वानों तक ही सीमित रह गया है। साधारण जनता उनके सूक्ष्म दार्शनिक सिद्धान्तों और अवान्तर भेदों को समझने में सर्वथा असमर्थ है। उपरोक्त षड्दर्शनों के आधार पर ही भारतवर्ष में अनेक सम्प्रदायों का उदय हुआ है। शैव, शाक्त और वैष्णव दार्शनिकों ने अपने-अपने तन्त्रों की रचना की है, यद्यपि उत्तर भारत में प्रत्येक सनातनधर्मी तीनों इष्टों की साथ-साथ उपासना करता है, उनके दार्शनिक भेदों को नहीं समझता और न उनको जानने की परवाह ही करता है।

श्रीमच्छङ्कराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रचार करते हुए भी सर्वत्र पञ्चोपासना की स्थापना करने के लिए निमित्त भारतवर्ष के चारों कोनों में चार मठों की स्थापना की। उन्होंने पञ्चोपासना अर्थात् शिव, शक्ति, विष्णु,

गणपति और सूर्य—पाँचों देवताओं की उपासना करने का उपदेश किया और साम्प्रदायिकता में पड़कर अपने इष्ट से भिन्न देवताओं में द्वेषभाव करने की निन्दा की, क्योंकि सबका अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मप्राप्ति ही है और वह ब्रह्म अपना अन्तरात्मा ही है, दूसरा नहीं। सब साधनों का फल आत्मतत्त्व को जानना है और वह आत्मतत्त्व ही परमात्मा है। काठियावाड़ प्रदेश के भक्तशिरोमणि नरसिंह मेहता ने एक पद में कहा है—

ज्यां लगि आत्म-तत्त्व चीन्ह्यो नहिं,
त्यां लगि साधना सब झूठी।

अर्थात् जब तक आत्मतत्त्व नहीं जाना जाता तब तक सब साधनाएँ निष्फल हैं, क्योंकि सबका फल आत्मज्ञान ही है। आत्मज्ञान ही अन्तिम सत्य है और उसकी अपेक्षा से पूर्व के सब साधनों का फल अन्तिम सत्य का प्रतिबिम्ब है। जैसा कि पश्चिम के एक विद्वान् Issac Penmington ने कहा है—

"All truths are a shadow except last But every truth is substance in its own place, though it be a shadow in another place And the shadow is a true shadow, as the substance is a true substance."

—"अन्तिम सत्य के अतिरिक्त सब सत्य छाया मात्र हैं। परन्तु प्रत्येक सत्य अपने स्थान पर सत्य ही है, यद्यपि वह दूसरे स्थान की अपेक्षा से छाया है और छाया तो एक सच्ची छाया ही है और सत्य सत्य ही है।"

इसलिए सब दार्शनिक सिद्धान्त, सब साम्प्रदायिक भेद, सब मत-मतान्तर अपने-अपने स्थान पर सत्य ही है, परन्तु वेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्मज्ञान अथवा आत्मज्ञान की अपेक्षा से सब परब्रह्म के प्रतिबिम्ब अथवा छाया हैं।

ब्रह्मविद्या अथवा परा विद्या,—जिसको अध्यात्म विद्या भी कहते हैं और जिससे ब्रह्म जाना जाता है,—वाणी का विषय नहीं है। उसे लेखनी की शक्ति से अथवा वाणी की शक्ति से व्यक्त करना सम्भव नहीं। वह विद्या प्रवचनों, व्याख्यानों और लेखों द्वारा नहीं जानी जा सकती, वह तो आत्मानुभव का ही विषय है और गुरु-परम्परा से परम ऋषियों की कृपा-स्वरूप अनन्त काल से चली आ रही है। उसका गुरु से शिष्य में

सञ्चरण आत्मबल द्वारा ही होना सम्भव है, जैसा कि श्रीमच्छङ्कराचार्य जी के बारे में विख्यात है :—

चित्रं वट तरु मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोमौनन्तु व्याख्यानं शिष्याच्छिन्न संशयाः।।

—"अहा ! का आश्चर्य है कि वट वृक्ष के नीचे बूढ़े-बूढ़े शिष्य बैठे हैं और गुरु युवा है। गुरु का व्याख्यान मौन है और शिष्यों के संशय छिन्न हो गये हैं।"

इस अध्यात्मविद्या की जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए शास्त्रों का स्वाध्याय किया जाता है और अपने अन्तः में उसके जाग उठने पर सब शास्त्रों की उपयोगिता समाप्त हो जाती है।

इस ग्रन्थ में उपनिषदों शाङ्कर भाष्य के अनुसार ब्रह्मसूत्रों, भगवद्गीता तथा श्रीमच्छङ्कराचार्य विरचित विवेक चूड़ामणि जैसे ग्रन्थों के आधार पर आध्यात्मिक विद्या के कुछ मुख्य-मुख्य विषयों को सरल भाषा में समझाने का यत्न किया गया है। साधन-सम्बन्धी विषयों को पातञ्जल योगदर्शन के आधार पर समझा गया है। गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र,—तीनों वेदान्त की प्रस्थानत्रयी के नाम से विख्यात हैं और सब आचार्यों को प्रमाणरूप से सदा मान्य रहे हैं।

ब्रह्मसूत्रों को उपनिषदों की एक प्रकार की बृहद् व्याख्या ही कहा जा सकता है। सब उपनिषद् वेदान्त शब्दवाच्य हैं। उनकी संख्या यद्यपि चारों वेदों की शाखाओं के बराबर है, परन्तु न तो सब शाखाएँ उपलब्ध हैं और न सब उपनिषद् ही। श्रीमच्छङ्कर भगवत्पाद ने अपने भाष्य में मुख्य-मुख्य १२ या १३ उपनिषदों को ग्रहण किया है और १० उपनिषदों पर स्वतन्त्र भाष्य लिखा है। ब्रह्मसूत्र अथवा उत्तर मीमांसा वेद व्यास जी का रचित ब्रह्म की मीमांसा करने वाला सर्वमान्य अन्तिम दर्शन है जिसमें सब उपनिषदों के समन्वयपूर्वक एक ब्रह्मजिज्ञासा का प्रतिपादन किया गया है। उपनिषदों में ब्रह्म का निरूपण, ब्रह्मविद्या का माहात्म्य एवं ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति प्राप्त करने के साधनों का संकेत है।

ब्रह्म का उपनिषदों जैसा स्वरूप किसी अन्य जाति के साहित्य में नहीं मिलता। विश्व की अन्य सब जातियों के दार्शनिकों की गति

प्रपञ्च-सापेक्ष सगुण ईश्वर तक ही रही है। ईश्वर को किसी ने व्यक्तिमापन्न (personal) और किसी ने सर्वगत (impersonal) अथवा उभयरूप वाला माना है, परन्तु उपनिषदों के ऋषियों ने निरपेक्ष परम (absolute) सत्तात्मक ब्रह्म की सिद्धि असंदिग्ध शब्दों में की है। यह गौरव वेदान्त को ही है। प्रत्येक प्राणी की शुद्ध अन्तरात्मा भी वही अव्यय, अविनाशी, त्रिकालातीत और त्रिगुणातीत, अमना, अप्राण, शुद्ध सत्-चित्-आनन्द मात्र प्रज्ञानघन कूटस्थ ब्रह्म ही है। उसको जानने के लिए मुख्य साधन श्रवण, मनन, निदिध्यासन है। साधन का उपक्रम साधन चतुष्टय से होता है जिसको नित्यानित्य वस्तु-विवेक, इहामुत्र फल-भोग-वैराग्य, षट्-सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व की बहिरङ्ग साधन-शृङ्खला समझना चाहिए। मोक्ष की इच्छा उत्पन्न होने पर जिस साधक के कषाय परिपक्व हो गये हों, उसे श्रवण, मनन और निदिध्यासन का अधिकार प्राप्त होता है।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्त वरान् निबोधत। —कटोपनिषद्

द्वितीय विकास

ब्रह्म-जिज्ञासा

ब्रह्म को जानने की इच्छा को ब्रह्म-जिज्ञासा और जिसको उसे जानने की इच्छा उत्पन्न हो गई है, उसे ब्रह्म-जिज्ञासु कहते हैं। उसी को मुमुक्षु भी कहते हैं क्योंकि ब्रह्मज्ञान से ही मोक्ष होती है अन्यथा नहीं। इसीलिए ब्रह्म को जानने की इच्छा का अभिप्राय मोक्ष की इच्छा समझना चाहिए। यहाँ जानने का अर्थ शाब्दिक अर्थ 'समझना' मात्र नहीं है, न ब्रह्म-सम्बन्धी शास्त्रों का अध्ययन करना मात्र है। केवल शास्त्रीय ज्ञान तो पण्डितों के बुद्धि-कौशल का विषय है और वह भी अन्य शास्त्रों के अध्ययन के सदृश बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाली एक उच्च कोटि की विषय-वासना की तृप्ति करने को पर्याप्त होता है अर्थात् वह एक बुद्धि-व्यापार मात्र है। बहुधा देखा जाता है कि बड़े-बड़े दार्शनिक विद्वान भी आध्यात्मिकता से सर्वथा शून्य और सदाचार से विमुख आचरणोंयुक्त होते हैं। उनमें विषय-भोगों की लालसा प्रायः एक सामान्य मनुष्य जैसी देखने में आती है और चिन्ता, भय, शोकादि से ग्रस्त रहते हैं। विषयासक्ति और इन्द्रिय-परायणता के गाढ़ पाशों से जकड़े रहने के कारण उनको ब्रह्म-विषयी शास्त्रीय ज्ञान से कोई वास्तविक लाभ नहीं होता। जब तक परमतत्त्व का तत्त्वतः अनुभव नहीं किया जाता तब तक शास्त्रों का ज्ञान और अध्ययन व्यर्थवत् है।

ब्रह्मज्ञान का उदय वस्तुतः उसका अनुभूत साक्षात्कार करना और उसकी सत्ता को प्रत्यक्ष अपने अनुभव में लाना है। इस प्रकार ब्रह्म को जानने की इच्छा भी एक प्रकार की भूख कही जा सकती है। जैसे क्षुधा लगना शरीर का धर्म है, वैसे ही ब्रह्म-जिज्ञासा शुद्ध सत्व प्राग्भार चित्त का धर्म है। तमोगुण की मलिनता, रजोगुण के विक्षेपों की काली घटा सदृश आँधियों और भय, मोह, राग-द्वेष, काम-क्रोधादि के आवरणों से चित्त पर ज्ञान रूपी सूर्य का स्वास्थ्यप्रद प्रकाश नहीं पड़ने पाता। ऐसे चित्त को ब्रह्म-जिज्ञासा की भूख नहीं लगती।

रजोगुण और तमोगुण से मिश्रित सत्वगुण से यद्यपि धर्म के कामों में प्रवृत्ति, विषयों से वैराग्य, ध्यान-योग-उपासना के लिए रुचि तथा सन्त-महात्माओं में श्रद्धा और सब प्राणियों पर दया-प्रेम के भाव जागने लगते हैं, तो भी ईश्वर से मिलने की इच्छा अर्थात् ब्रह्म-जिज्ञासा की क्षुधा नहीं लगती। इसलिए मुमुक्षु बनने के लिए ईश्वर को प्राप्त करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न करनी चाहिए। ईश्वर को जानने की इच्छा ही उससे मिलने का अधिकार प्रदान करती है।

ऐसा भी देखा जाता है कि बहुत से मनुष्य केवल शास्त्रों के अध्ययन और तर्क-युक्ति से जीव-ब्रह्मैक्य-सिद्धान्त को समझकर अपने को कृतकृत्य मानने लगते हैं और कहा करते हैं कि ब्रह्म-ज्ञान के लिए किसी उपासना अथवा योग-साधन की आवश्यकता नहीं कही गई है। उनकी ऐसी धारणा सर्वथा निराधार नहीं होती, परन्तु यह बात अवश्य है कि वे बेसमझी से ऐसा मानने लगे हैं। हम आगे इस विषय को विस्तारपूर्वक बतायेंगे कि ब्रह्मज्ञान अनुभूति का विषय होने के कारण यद्यपि किसी कर्म की अपेक्षा तो नहीं रखता, परन्तु अपरोक्षानुभव के लिए पहले अधिकारी बनना अनिवार्य और और अधिकारी बनने के लिए ही योग, उपासनादि की आवश्यकता होती है।

जो मनुष्य ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म हो जाता है। उसकी चर्या फिर संसारी मनुष्य की सी नहीं रहती। वह सदा ब्रह्मभाव में रहने लगता है—

ब्रह्मभूताः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

—गीता

ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होने पर मनुष्य की मुद्रा प्रसन्न रहने लगती है, वह संसार-सागर के थपेड़ों से विचलित नहीं होता और अपनी अविचल शान्त साम्यावस्था को कभी नहीं छोड़ता। इहलोक और परलोक दोनों की भोग-वासना का उन्मूलन हो जाने से निरीह, सदा सन्तुष्ट और आत्मतृप्त रहता है। वह न दुःखों से व्याकुल होता है और न सुखों की कामना रखता है। राग-द्वेष और भय तो उसके निकट भी नहीं आते। ऐसा मनुष्य संसार में रहता हुआ भी संसार के धर्मों से निर्लिप्त रहता है। संक्षेप में ब्रह्म का जानना एक अन्तःस्थिति का नाम है जिसे ब्राह्मी-स्थिति कहते हैं,

केवल बुद्धि से समझ लेने मात्र का नाम ज्ञान नहीं है और उस ज्ञान की स्थिति दोषों के क्षीण होने पर साधन-सम्पन्न मुमुक्षुओं को ही उदय हुआ करती है। 'तत्स्वयं योग संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' (गीता) अर्थात् वह ज्ञान समय पाकर योग-संसिद्ध मनुष्य को स्वयं अपने अन्तरात्मा में प्राप्त होता है।

अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो,
यं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः।

तृतीय विकास

ब्रह्म का स्वरूप

इस युग में दो प्रकार के धार्मिक मत (religious thoughts) प्रचलित हैं—एक ईश्वरवाद, और दूसरा अनीश्वरवाद। आत्मवादी ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते, परन्तु आत्मा की सत्ता को मानते हैं, जैसे जैनी बौद्ध यद्यपि ईश्वर को नहीं मानता और आत्मा के स्वरूप को क्षणिक विज्ञान का स्वरूप कहता है, तो भी उसे निर्वाण-पद की प्राप्ति के साधन ध्यान, योगादि मान्य हैं। अनात्म और अनीश्वरवादों की गणना धर्मों में नहीं की जाती, जैसे चारवाक और भौतिक विज्ञानवाद। ऐसे मतावलम्बियों को नास्तिक कहते हैं।

ये अधर्मी इसलिए नहीं कहे जात सकते कि धर्म शब्द सदाचार का भी द्योतक है। अनीश्वरवादियों और साथ ही अनात्मवादियों में भी अनेक व्यक्ति उच्चकोटि के त्यागी और सदाचारी देखने में आते हैं, इसलिए उन्हें अधर्मी कहना गलत है, परन्तु वे नास्तिक कहे जा सकते हैं। इसके विपरीत हिन्दू, ईसाई अथवा मुसलमान कोई भी सदाचारहीन होने से अधर्मी कहा जाता है। वैदिक साहित्य में वेदों को न मानने वालों और अनात्मवादियों के लिए नास्तिक शब्द का प्रयोग किया जाता है। ईसाई और इस्लाम भी ईश्वरवादी हैं, परन्तु जैन और बौद्ध ईश्वर को नहीं मानते।

वैदिक धर्म को मानने वालों के अनेक सम्प्रदाय हैं, जैसे सनातन-धर्म, आर्य-समाज, ब्रह्म-समाज, सिख इत्यादि। इसी प्रकार ईसाई और इस्लाम में भी अनेक सम्प्रदाय हैं। ये सभी किसी-न-किसी रूप में ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखते हैं, परन्तु सब के मतानुसार ईश्वर का स्वरूप एक समान नहीं है। कोई ईश्वर को (personal God) व्यक्त-स्वरूप और कोई ईश्वर को (impersonal God) अव्यक्त-स्वरूप मानते हैं। ईसाई और मुसलमान दोनों ही ईश्वर का व्यक्तिगत स्वरूप मानते हैं। उन के अनुसार ईश्वर विश्व का स्वामी, मनुष्याकृति, सातवें आसमान या स्वर्ग में

रहता है और साथ ही वह अपनी विभूति सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता और सर्वव्यापकता भी लिए हुए है। हिन्दुओं में भी कुछ द्वैतवादी ऐसे ही विचार वाले हैं।

दार्शनिक दृष्टि से ईश्वर का स्वरूप ऐसा नहीं है। गीता में भगवान् ने कहा है कि नासमझ लोग मुझ अव्यक्त मनुष्याकृति व्यक्तिमापन्न समझते हैं, क्योंकि वे मेरे उत्तम अव्यय परम भाव को नहीं जानते। ईश्वर का स्वरूप क्या है?—इस विषय की मीमांसा उपनिषदों में पूर्णरूप से की गई है। वहाँ ईश्वर को ब्रह्म संज्ञा देकर एक ऐसे विचार को जन्म दिया गया है जो उपनिषदों के सिवाय अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। ब्रह्म-सम्बन्धी यह अति सूक्ष्म दार्शनिक विषय उपनिषदों में बड़े विस्तार से दृष्टान्तों और आख्यायिकाओं द्वारा अति सरस, मधुर, सरल और भावपूर्ण वैदिक संस्कृत में वर्णित है जो दुनियाँ का सबसे पुराना सर्वमान्य दार्शनिक साहित्य है।

वैदिक साहित्य में ब्रह्म को विश्व का करण, नियन्ता और लयस्थान कहा गया है, परन्तु उसके स्वरूप का वर्णन सृष्टि की अपेक्षा से सापेक्षिक (relative) और सृष्टि-निरपेक्ष निरपेक्ष स्वतन्त्र-सत्तात्मक (absolute) — दोनों प्रकार से किया गया है। जब हम उसको देश (space) काल (time) और नाम-रूपों (name & form) की दीवारों के भीतर खड़ा होकर देखते हैं तो उसे सर्वव्यापी, अनादि, अनन्त, विराट् स्वरूप, सर्वशक्तिमान्, सबका आदि कारण और नियन्ता, गोप्ता कहते हैं, परन्तु जब उसको उपरोक्त चार-दीवारी से बाहर, देश-काल से अतीत और नाम-रूप रहित देखते हैं तो उसी को सत्-चित्-आनन्द अर्थात् सच्चिदानन्द कहते हैं।

सत् का अर्थ सत्तात्मक, चित् का अर्थ चेतन् प्रज्ञानात्मा, चिन्मात्र और आनन्द का अर्थ निरतिशय आनन्दघन है। उसका न कोई लिङ्ग है, न अवयव। उसे नामरूपातीत परमअव्यक्त, पूर्ण, निर्विकार, एकरस, निरञ्जन, निर्गुण आदि शब्दों में निर्दिष्ट किया जाता है। वहाँ न अवकाश (space) है, न काल की गति, न रूप है, न रङ्ग, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध के विषय नहीं है और न कार्य-कारण की शृङ्खला का क्रम है। सब द्वन्द्वों से परे वह अद्वितीय, अप्राण, अमना और अखण्डैकरस सत्तावान है। उसमें प्रकृतिक के तीनों गुणों को स्थान नहीं। गुणातीत है, इसलिए उसे तुरीयपद कहते हैं। यद्यपि ब्रह्म का ऐसा स्वरूप है, परन्तु प्रकृति की उपाधि से सोपाधिक माया-विशिष्ट सगुण की उसमें उसी प्रकार प्रतीत होती है जैसे स्फटिक में निकटस्थ जपाकुसुम की अरुणिमा।

यहाँ हम सगुण-निर्गुण ब्रह्म के स्वरूपं को भौतिक प्रकाश के दृष्टान्त से समझाते हैं। सामान्य दृष्टि से जो चेतन-अचेतन का भेद प्रतीत होता है, वह दोनों के विपरीतधर्मी होने के कारण है। चेतन आत्मा अपरिणामी है और जड़ प्रकृति परिणामिनी है। दोनों का तादात्म्य होना कभी सम्भव नहीं है। आत्मा कभी जड़ नहीं बन सकता और जड़ कभी चेतन नहीं हो सकता। इसीलिए आत्मा में उपाधि का वास्तविक एकीकरण कभी नहीं होता। जड़-चेतन इसी प्रकार भिन्न हैं जैसे प्रकाश और प्रकाश्य पदार्थ। प्रकाश जब पदार्थों को प्रकाशित करता है तब प्रकाशित पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं और प्रकाश के अस्तित्व का भी ज्ञान होता है। यद्यपि प्रकाश स्वयं दृष्टि का विषय नहीं है, परन्तु जिस पदार्थ पर पड़ता है, उसके रूप-रङ्ग को व्यक्त कर देता है। स्वतः कभी नहीं दिखता, परन्तु दिखने वाले पदार्थों की उपाधि से जाना जाता है। स्वयं न काला है, न श्वेत, न अन्धकार है, न प्रकाश, परन्तु समस्त जगत् के नाम-रूपों पर पड़कर उनको व्यक्त करता रहता है और प्रकाशित वस्तुओं की उपाधि से दृष्टि उसके सोपाधिक अस्तित्व को ग्रहण करती है। प्रकाश तब भी पदार्थों की उपाधि से सदा असङ्ग, निर्लिप्त रहता है।

यदि किसी अँधेरे घर में छत या दरवाजों के छिद्रों से सूर्य की किरणें आती हों तो वे आकाश में आती हुई नहीं दिखतीं। जब वे भूमि पर पड़ती हैं तभी उनके अस्तित्व का ज्ञान होता है। यदि घर में धुआँ भर दिया जाय तो प्रकाश के प्रवेश वाले छिद्र से भूमि तक उन किरणों का सारा मार्ग चमकने लगता है। प्रकाश यदि किसी वस्त्रादि पदार्थ पर पड़ता है तो उस पदार्थ के गुण-दोष दिखने लगते हैं, परन्तु वे गुण-दोष प्रकाश में नहीं आते, वह सदा स्वच्छ रहता है। वह पदार्थ प्रकाश नहीं बनता और न प्रकाश ही पदार्थ बन जाता है।

जैसे प्रकाश स्वयं निर्गुण है, परन्तु उसकी प्रतिभा प्रकाश्य पदार्थों के गुण-दोषों की उपाधि से सोपाधिक जान पड़ती है, यद्यपि वह उनसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार आत्मा को प्रकाशवत् और प्रकृति को गुण-दोषयुक्त प्रकाश्य पदार्थ समझना चाहिए। दीवार पर प्रकाश के पड़ने से जो उस दीवार की उपाधियों की प्रतीति होती है, उसे प्रकाश कहना अज्ञान है। दोनों के इस तादात्म्यभाव की प्रतीति को अज्ञान कहते हैं। प्रकाश का तत्त्वतः स्वरूप जो दृष्टिगोचर नहीं हो सकता, उसका परम

भाव है और प्रकाश्य पदार्थों के संयोग से उसकी सोपाधिक प्रतिभा विपर्यय ज्ञान है। ऐसा ही ब्रह्म का स्वरूप समझना चाहिए। इसीलिए उपनिषद् कहते हैं कि दृष्टि उसको देख नहीं सकती, दृष्टि उसके कारण देखती है, श्रवण उसको नहीं सुन सकते, श्रवण उसके कारण सुनते हैं, घ्राण शक्ति उसको नहीं सूँघ सकती, घ्राण उसके कारण सूँघती है, रसना उसको नहीं चख सकती, रसना उसके कारण चखती है, स्पर्शेन्द्रिय उसको नहीं छू सकती, स्पर्शेन्द्रिय उसके कारण छूती है, मन उसकी कल्पना नहीं कर सकता, मन उसके कारण संङ्कल्प करता है, बुद्धि उसको नहीं जान सकती, बुद्धि उसके कारण जानती है, प्राण उसको जीवित नहीं रखते, प्राण उसके कारण जीवन देते हैं। सूर्य, चन्द्र, तारे, अग्नि, विद्युत् उसको प्रकाशित नहीं कर सकते, सूर्य, चन्द्र, तारे, अग्नि, विद्युत् उसी के कारण प्रकाशमान् हैं। सारा प्रपञ्च उसी के आधार पर स्थित है और सब चेतन पदार्थ उसकी चेतना से चेतन हैं। इस सोपाधिक रूप को ही सगुण ईश्वर कहते हैं।

जीव भी सोपाधिक स्वरूप ही है; परन्तु अन्तर इतना है कि वह उपाधियों को अज्ञानवश अपना ही रूप मानता है और असली शुद्ध स्वरूप को भूला हुआ-सा है। इस अध्यारोपण को अविद्या कहते हैं।

ईश्वर में यह अविद्या कभी नहीं होती। वह न कभी अविद्या से ग्रस्त होता है, न कभी मुक्त। इसी अभिप्राय से योग-दर्शन ईश्वर को—'क्लेश कर्म विपाकाशैरपरामृष्टः पुरुष विशेषः'—कहता है। जीव अविद्या-ग्रस्त होकर जड़ शरीरों में अहंकृति करके देहाभिमान करता है और प्रपञ्च में ममता करके स्वार्थ से राग-द्वेष करने लगता है, देहासक्ति के वश होकर मृत्यु का भय मानता है। परन्तु ईश्वर सदा शुद्ध, अविद्या से अतीत, नित्य शाश्वत परम भाव में रहते हुए भी असङ्गभाव से विश्व का सृजन, पालन एवं संहार करता रहता है। उस में व्यक्तित्वाभिमान कहाँ? परन्तु मनुष्य उसके परम भाव को नहीं जानता, इसलिए उसको प्रपञ्च की उपाधियों से सोपाधिक मानता और देखता है और उसे सगुण-निर्गुण भेद समझने की चेष्टा करता है। वास्तव में वह सदा एक ही है, उसमें उपाधियों की कल्पना उतनी ही असत्य है जितना असत्य यह प्रपञ्च है। परन्तु उपासना के निमित्त सगुण रूप का आश्रय लेना पड़ता है।

सगुण रूप के बारे में दार्शनिकों का मतभेद है। कोई उसको प्रकृति

से भिन्न, स्वतन्त्र, घड़ों के निर्माता कुम्हार के सदृश जगत् का निमित्त कारण मानते हैं। दूसरे प्रकृति को भी उसी से उत्पन्न होने वाली मानकर ईश्वर को अभिन्न-निमित्तोपादान कारण कहते हैं। मुण्डक, उपनिषद् में ऐसी ही उत्पत्ति कही गई है जैसे मकड़ी से जाला, शरीर से केशरोम अथवा जैसे भूमि से वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं और फिर उसी में उनका लय भी हो जाता है। इसलिए वही प्रकृति का उपादान कारण है जैसे मिट्टी घड़ों का और वही समस्त नामरूपात्मक दृश्य में व्याप्त होकर सब का रचने वाला, नियन्ता, गोप्ता और संहार करने वाला निमित्त कारण भी है। इसलिए यह सब विश्व ब्रह्म का ही रूप है। इसके अभिमानी आत्मा को विराट कहते हैं और पञ्चमहाभूतों का बना हुआ समस्त स्थूल जगत् विराट् का स्थूल शरीर है—

पुरुषेवेदꣳसर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।

—यजुर्वेद

स्थूल शरीर के अन्दर पञ्चतन्मात्राएँ, पाँच प्राण, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि का मिलकर प्राणमय सूक्ष्म शरीर माना जाता है। समष्टि की बुद्धि को महत्तत्त्व कहते हैं, इसका अभिमानी आत्मा हिरण्यगर्भ कहलाता है। स्थूल और सूक्ष्म दोनों का कारण अव्यक्त, प्रधान अथवा मूल प्रकृति है। विराट् को 'अ'कार, हिरण्यगर्भ को 'उ'कार और अव्याकृतात्मा सत् को 'म'कार कहते हैं। व्यष्टि रूप शरीरों में भी स्थूल शरीर में जाग्रत अवस्था के अभिमानी को वैश्वानर, सूक्ष्म शरीर में स्वप्नावस्था के अभिमानी को तैजस् और कारण शरीर में सुषुप्ति अवस्था के अभिमानी को प्राज्ञ कहते हैं।

वैश्वानर अकार का, तैजस् उकार का और प्राज्ञ मकार का अंश है। इस प्रकार सारा जड़-चेतनमय स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत् ॐकार स्वरूप सगुण ब्रह्म का शरीर है। परन्तु कूटस्थ अव्यय अक्षर ब्रह्म भी—जो प्रपञ्च से अतीत और सर्वदा एकरस रहता है,—ॐकार ही है। सृष्टि के कारण अव्यक्त के अभिमानी को अविद्या-शबल ब्रह्म कहते हैं और यही सत् शब्द वाच्य है। इसकी अपेक्षा से प्रपञ्च को असत् कहते हैं। परन्तु अक्षर परब्रह्म न सत् है, न असत्। बहुधा जगत् को सत् और उसकी अपेक्षा कारण ब्रह्म को असत् भी कहा जाता है।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।

—गीता १३, १२

श्रीमद्भागवत् पुराण में भी यह भाव पाया जाता है—

अहमेवासमेवाग्रे वान्यद्यत्सदसत्परम्।
पश्चादहंयदेतच्च योऽवशिष्यते सोऽस्म्यहम्।।

—भागवत् २, ६-३२

—"मैं ही सृष्टि के पूर्व में था और अन्य कुछ न था। जो था, वह न सत् था, न असत् था, परन्तु सत्-असत् दोनों से परे था और सृष्टि होने पर यह जो कुछ प्रतीत होता है, वह भी मैं ही हूँ और प्रलय होने के उपरान्त जो बचा रहता है, वह भी मैं ही हूँ।"

अक्षर परब्रह्म जैसा सृष्टि के पूर्व प्रलय के समय रहता है, वैसा ही सृष्टि के समय में भी रहता है। सृष्टि के बनने-बिगड़ने से उसमें कोई विकार नहीं आता, न उसमें कोई परिणाम होता है। वह सदा एकरस, अव्यय, निर्विकार रहता है, इसीलिए उसे अक्षर, अच्युत, अमृत, अव्यक्त, ध्रुव, कूटस्थ, अचल, निरञ्जन, निर्गुण कहते हैं। वही सब का अन्तरात्मा, सब के हृदयाकाश में विराजमान है। वह मन, प्राण और सब इन्द्रियों का आधार, प्राण का भी प्राण, मन का मन, चक्षु का चक्षु तथा श्रोत्र का भी श्रोत्र है। वह बाहर, भीतर सर्वत्र परिपूर्ण हैं। वह प्रशान्त, शिव, अद्वैत और चेतनामात्र प्रज्ञानात्मा है। उसके प्रकाश से सब ज्योतियाँ प्रकाशमान् हैं, परन्तु सूर्य, चन्द्र, तारों और अग्नि की वहाँ तक पहुँच नहीं है।

मन, वाणी और सब इन्द्रियाँ उसकी चेतन शक्ति से चेतन हैं परन्तु वह मन-वाणी की गति से बहुत दूर है। दृष्टि और श्रवणेन्द्रिय की तो वहाँ तक गति ही कहाँ जो उसको देख या सुन सकें? वह सब प्राणियों के हृदयों में बसा हुआ है और सब का भर्ता एवं साक्षी है। वही अनुमन्ता और सब का प्रेरक है। वह सब की बुद्धियों में बैठा हुआ सारथी का कार्य करता है और सब का अन्तर्यामी गुरु है। योगी अन्तःदृष्टि से उसका ध्यान करते हैं और भक्तजन अपने हृदयों के आसन पर बिठाकर प्रेम-भक्तिभाव द्वारा उसकी आराधना करते हैं।

वह विश्वतोमुख चराचर का स्वामी उनकी अभिलाषाओं को पूर्ण करता है, उनके साथ क्रीड़ा करता है और जिनकी जैसी भावना होती है, उन्हें वैसे ही रूप में दर्शन देकर उनका उत्थान करता है। परन्तु ऐसी लीलाएँ उसकी मायामयी दैवी शक्ति के ही खेले होते हैं। इस रूप को सगुण या साकार कहते हैं। यही रूप सब सम्प्रदायों और धर्मों के मानने वालों का इष्ट कहलाता है। कोई गोलोक में, कोई शिवलोक में, कोई सातवें आसमान पर और कोई

सत्यलोक या क्षीर-सागर में अपनी-अपनी भावनाओं और परम्परागत विचारों के अनुसार उसको व्यक्तिमापन्न मानकर उपासना करते हैं। वास्तव में उसका तात्त्विक स्वरूप अव्यक्त ही है, परन्तु सामान्य जन-साधारण उसको न समझकर अज्ञानवश उसे अपने सदृश कोई शरीरधारी व्यक्तिमापन्न देव (Personal diety) ही समझते हैं। भगवान् भी गीता में यही बात कहते हैं :—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।।

—गीता ७,२४

—गीता ७,२४—"मूर्ख लोग अव्यक्त को व्यक्तिमापन्न मानते हैं। वे मेरे उत्तम अविनाशी परमभाव को नहीं जानते।"

वास्तव में निगुर्ण-सगुण का भेद व्यावहारिक है। दोनों में कोई अन्तर नहीं है। निगुर्ण ही सगुणवत् दृष्टिगोचर होता है। गीता के अध्याय १३, श्लोक १२ से १७ तक में निर्गुण-सगुण का अभेद बड़े सुन्दर ढङ्ग से दिखाया गया है जो पढ़ने योग्य है। इन श्लोकों का अर्थ हम नीचे देते हैं :—

श्री भगवान् कहते हैं—"अनादि परब्रह्म, जो जिज्ञासा का विषय है, उसे बताता हूँ जिसको जानकर अमरपद की प्राप्ति होती है। वह न सत् कहलाता है, न असत् कहलाता है। उसके हाथ-पैर सर्वत्र हैं, सर्वत्र उसकी आँखें, सिर और मुख हैं, संसार में सर्वत्र उसके कान हैं और वह सब में व्यापक रूप से विद्यमान है। उसमें सब इन्द्रियों के गुण दीख पड़ते हैं, परन्तु उसके कोई इन्द्रिय नहीं होती। वह सबका पालन करता है, परन्तु सब से अनासक्त है।"

"सब गुणें का भोक्ता है, परन्तु निर्गुण है। वह चराचर सब भूतों के बाहर और भीतर है, परन्तु अति सूक्ष्म होने के कारण जाना नहीं जाता। दूरस्थ भी है और निकट भी है। सब भूतों (प्राणियों) में अविभक्त रूप से स्थित है, परन्तु सब में अलग-अलग विभक्त-सा दीखता है। सब प्राणियों का पालन करने वाला और सब का उत्पत्ति और लयस्थान भी वही है। वह सब ज्योतियों की ज्योति है और तम से बहुत परे है। वही ज्ञान है, वही ज्ञेय है, वही ज्ञाता है और सब के हृदयों में विशेष रूप से बसा हुआ है।"

अर्थात् उसके तीन रूप हैं—(१) कूटस्थ, अक्षर निर्गुण ब्रह्म जो न सत् है, न असत्, (२) माया विशिष्ट अथवा अविद्या-शबल सगुण ब्रह्म, और (३) सबके हृदय में विराजमान् अन्तर्यामी। परन्तु तीनों में वह अभेद रूप

से एक ही है। वास्तव में उसका तत्त्वतः स्वरूप पहले वाला कूटस्थ ही है। वही परमपद और परा गति है। साधारण लोग उसके इस अव्यक्त स्वरूप को न समझ कर उसे अपने जैसा ही कोई रूपधारी देव समझते हैं, परन्तु वह निर्गुण ही सगुणवत् दीख पड़ता है। वह कुछ भी न करता हुआ भी सब कुछ करता है। बिना आँखों के देखता है और बिना कानों के सुनता है। सबकी प्रार्थनाओं को सुनता है, सबका प्रेरक, अन्तर्यामी है और वह प्रभु सब पर सदा अनुग्रह करता है। भक्त और योगी उसका अपने हृदय में दर्शन करके कृतार्थ होते हैं, उसकी शरण लेकर संसार-सागर से पार होते हैं तथा उसकी सहायता से उसके परम अव्यक्त पद में लीन हो जाते हैं। गीता में इसी आशय से भगवान् ने कहा है कि मैं क्षर अर्थात् नश्वर भौतिक प्रपञ्च से अतीत हूँ और अव्यक्त कूटस्थ अक्षर ब्रह्म से भी उत्तम हूँ, इसलिए लोक और वेदों में मुझे पुरुषोत्तम क़हा जाता है।

यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि ब्रह्मलीनता रूप सायुज्य मोक्ष उनको ही होती है जो जीव-ब्रह्म की एकता पर विश्वास करते हैं, दूसरों को नहीं। परन्तु जीव-ब्रह्म की एकता से जीव की सगुण ईश्वर अथवा पुरुषोत्तम भगवान् से एकता नहीं समझनी चाहिए। सगुणोपासना के मोक्षक्रम का वर्णन ब्रह्मसूत्रों के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद में विस्तारपूर्वक दिया हुआ है। वहाँ १७वें सूत्र—'जगद्व्यापारवर्ज प्रकरणाद सनिहितत्वाच्च'—में कहा है कि सगुण ब्रह्म की उपासना से उनके ऐश्वर्य जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार के व्यापारों को छोड़कर अणिमादि सिद्धियोंयुक्त ईश्वरतुल्य होता है। जो लोग ब्रह्मैक्यता पर विश्वास करते हैं वे उपरोक्त ऐश्वर्य को प्राप्त करके अथवा बिना प्राप्त किये ही सगुण की सहायता से परब्रह्म में लीन होकर सायुज्य मुक्ति पाते हैं। गीता और उपनिषदों में अध्यात्मपथ का यह मार्ग सर्वत्र देखने में आता है। सगुण की उपासना से निर्गुण तक जाने का मार्ग सरल है। निर्गुण की उपासना कठिन है, जैसा कि भगवान् स्वयं कहते हैं :—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।

—गीता १२, ५

✧ ✧ ✧

चतुर्थ विकास

सत् और असत्

"सतोबन्धुमसतिनिर्विन्दन्"

ब्रह्म को सृष्टि का कारण सिद्ध करने के लिए उपनिषदों में कई स्थानों पर सृष्टिक्रम का वर्णन मिलता है। उनसे एक बात जो विशेष रूप से सिद्ध होती है, वह यह है कि प्रपञ्च छायावत् चेतन आत्मा के आश्रित है, इसीलिए उसकी सत्ता चेतन ब्रह्म से स्वतन्त्र नहीं हो सकती। 'स ईक्षत लोकान्नुसृजा' (ऐतरेय १-१-१), 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' (छान्दोग्य ६-२-३), 'स ईक्षां चक्रे, स प्राणमसृजत' (प्रश्न ६-३), 'आत्मनः एवेदंर्वसम्' (छान्दोग्य ७-२६-१), 'तपसा चीयते ब्रह्म' (मुण्डक) इत्यादि अनेक उपनिषद्-वाक्यों का एकमात्र अभिप्राय यही है कि उसकी इच्छा, सङ्कल्प अथवा तप के परिणाम-स्वरूप यह सृष्टि है। उससे कभी सृष्टि का उदय होता है और कभी उसी में लय भी हो जाता है, जैसे पानी की तरंगें पानी से उदय होकर पानी में ही विलीन हो जाती हैं।

एक और उपमा दी जाती है जो वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक समानता रखती है। जैस विद्युत सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति उसके दो रूपों में प्रकट होने से ही होती है। अंग्रेजी में उन रूपों को positive और negative कहते हैं। हिन्दी में इनका अनुवाद धन और ऋण ही किया जाता है, परन्तु हम वैदिक साहित्य के सत् और असत् शब्दों से इनका अनुवाद करना अधिक उचित समझते हैं क्योंकि असत् तो सत् की छायावत् ही है, यद्यपि दोनों की अभिव्यक्ति एक ही सदृश होती है। दोनों एक-दूसरे के बिना व्यक्त नहीं रह सकते। एक के लय के साथ दूसरा भी लीन हो जाता है और दोनों के पारस्परिक निष्क्रिय (discharge) हो जाने से दोनों रूपों का अभाव हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं होता कि दोनों का अभाव होने पर मूल विद्युत,—जिसकी अभिव्यक्ति उक्त दो

रूपों में होती है,—नष्ट हो जाती है, परन्तु वास्तव में वह अपने वास्तविक अव्यक्त रूप में अदृश्य हो जाती है। इसलिए विद्युत न सत् कही जा सकती है, न असत् वरन् सत् (positive) और असत् (negative) दोनों से परे निरपेक्ष अव्यक्त है। इसी प्रकार सृष्टि की रचना को भी समझना चाहिए। सृष्टि की उत्पत्ति के पहले न वह सत् रहता है, न असत् रहता है, वरन् सत् और असत् दोनों से भिन्न अव्यक्त रहता है।

नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं……। —ऋग्वेद

उसका तप या सङ्कल्प ही सत् और असत् की अभिव्यक्ति का कारण होता है—'तपस्तन्महिनाऽजायतेकम्'—ऋग्वेद (१) सङ्कल्प का स्थान सत् चेतन (positive) और (२) सङ्कल्प का विषय असत् अचेतन (negative) है। (३) दोनों का ज्ञानमय (concious) पृथक्करण उसका महान् तप है (४) उसके विस्फोट से जो शब्द उत्पन्न होता है, वह ॐकार-स्वरूप शब्द ब्रह्म कहलाता है। बाइबिल में भी सन्त जॉन के एक वचन में यही भाव मिलता है—'In the beginning there was the word and the word was with God and the word was God'—सृष्टि के आदि में शब्द था, वह शब्द ईश्वर के साथ था और वह शब्द ही ईश्वर था।

प्रश्नोपनिषद् में सत् को प्राण और असत् को रयि संज्ञा दी गई है। प्राण चेतन और रयि उसकी अचेतन भोग्य छाया है। दोनों की अभिव्यक्ति का परिणाम समस्त नाम रूपात्मक चराचर जगत् है। अभिव्यक्ति के पूर्वापर क्रम को काल, प्रसार को देश या अवकाश और विकास के परिणामक्रम को कारण-कार्य की शृङ्खला कहते हैं। अभिव्यक्ति की भिन्नता एवं विषमता के कारण अनेक नाम और रूप कहने और देखने में आते हैं, परन्तु जब सत् और असत् दोनों का समीकरण हो जाता है तब न चेतन द्रष्टा रहता है, न अचेतन दृश्य, वरन् मूल परमतत्त्व जो दोनों के उदय और अस्त का उद्गम है, वही रहता है। सत्-असत् से परे उस अद्वितीय निरपेक्ष केवल परमतत्त्व को अक्षर ब्रह्म कहते हैं और सत्-असत् की अभिव्यक्ति को अविद्या, माया, प्रकृति इत्यादि कहा जाता है।

प्राण के दो रूप हैं—अधिदैव और अध्यात्म। इन्हें समष्टि स्वरूप हिरण्यगर्भ (Universal Consciousness) और व्यष्टि प्राण भी कहते हैं। उपनिषदों के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म से समष्टि प्राण की उत्पत्ति

कही गई है—

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।

—कठोपनिषद् ६,२

अर्थात् यह जो कुछ जगत् है, वह सब प्राण का स्पन्द है जो (ब्रह्म से) उदय होता है इसलिए प्राण का चेतन-अचेतन दोनों रूपों में परिणित होना मानना पड़ेगा और इस दृष्टि से रयि को, जो अचेतन भोग्या है, प्राण का ही आधिभौतिक परिणाम समझना चाहिए। अहंता भी प्राण का ही कार्य है और उसके साथ युगपद इदं का ज्ञान भी उदय होता है। अहम् और इदम् के ज्ञान में ही सारे प्रपञ्च का दिखावा है। अर्थात् जब तक अहम् (मैं) और इदम् (यह) अथवा द्रष्टा और दृश्य का भाव रहता है, तभी तक जगत् की प्रतीति होती है और इनके लय के साथ लय हो जाती है। एक दूसरे के बिना नहीं रह सकता। इसलिए भौतिक विज्ञानवादी को यह भ्रम होता है कि चेतन सत्ता भौतिक विकास का ही एक परिणाम मात्र है, उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। पर ऐसा मानने पर भी प्रकृति के आदि परमाणुओं में अचेतन द्रव्य के साथ चेतन सत्ता का भाव युगपद मानना पड़ेगा क्योंकि अभाव से किसी वस्तु का भाव नहीं होता।

वास्तव में अनात्मवादी का अनात्म भौतिकवाद उसे सिर नीचा करके पैरों से लटकाने के समान है। वह यह नहीं सोचता कि चेतन-अचेतन दोनों का युगपद उदय सापेक्षिक है, परन्तु दोनों का मौलिक आधार तो परमचेतन तत्त्व ही है, अचेतन प्रकृति नहीं है।

पातञ्जल योगदर्शन इस विषय को नीचे दिये सूत्रों में इस प्रकार कहता है :—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः। —२,२३

तस्य हेतुरविद्या। —२,२४

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्। —२,२५

अर्थात् दृश्य शक्ति और उसकी स्वामिनी द्रष्टा शक्ति का संयोग (दोनों के) स्वरूप की उपलब्धि का हेतु है। उस संयोग का कारण अविद्या है। उस (अविद्या) का अभाव होने से संयोग का अभाव होने पर (स्वरूप का) हान होता है और उस द्रष्टा अर्थात् देखने वाली शक्ति को कैवल्य प्राप्त होता है। कैवल्य पद को सत्-असत् से परे निरपेक्ष परम पद

(absolute) ही समझना चाहिए। परन्तु सगुण रूप के दर्शन दृष्टा-दर्शन-दृश्य की त्रिपुटी के सहित ही होने सम्भव हैं। अहं-इदं के अभाव के साथ सगुण रूप के दर्शन का भी लय हो जायेगा, परन्तु वह व्यक्तिगत लय होता है। एक व्यक्ति ही अहंता के लय होने से विराट् का लय नहीं होता क्योंकि विराट् का अस्तित्व विराट् की ही अहन्ता के अधीन है। शैव दार्शनिक उस अहं विमर्ष को शिव और इदं विमर्ष को शक्ति कहते हैं।

कूटस्थ शुद्ध अन्तरात्मा पाँच कोषों से ढका हुआ है। इन पाँच कोषों के नाम अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय हैं। इन कोषों में भी पूर्वोक्त शक्तिद्वय क्रम से स्थूल, सूक्ष्म रूपों में कार्य कर रही हैं और ऊपर कहे सिद्धान्त के अनुसार निरोध द्वारा दोनों शक्तियों का लय होने पर मूल अव्यक्त की उपलब्धि होती है। यह योग-विज्ञान का विषय है। योग शास्त्र विज्ञान का शास्त्र हे जो वैज्ञानिक रीति से सब क्रियाओं के रहस्य को समझाकर ध्येय की ओर अग्रसर करता है, परन्तु अन्य पन्थावलम्बी यह नहीं जानते कि कौन-सी क्रिया, क्यों होती है और उसका परिणाम क्या होता है? उनको जो क्रिया बता दी जाती है, वे उसी पर बिना 'क्या और क्यों' समझे चलते रहते हैं। यदि कोई विघ्न-बाधा उपस्थित न हुई तो वे पार लग ही जाते हैं, नहीं तो इधर-उधर भटकते मारे फिरा करते हैं और अन्तिम लक्ष्य को बिना समझे रास्ते में ही मिथ्या तुष्टि के गोरखधन्धे रूपी इन्द्रजाल में पड़े हुए अपने को कृतकृत्य समझने लगते हैं। परन्तु योग-विज्ञान प्रत्येक क्रिया का रहस्य बताता है जिसको जानकर योगावलम्बी समझ-समझ कर आगे पग रखता है। यथार्थ रास्ता और साधन सब का एक ही है, परन्तु सिद्धान्तों में अन्तर होने के कारण लोग भ्रम में पड़े रहते हैं।

उक्त सत् और असत् दोनों शक्तियों का कार्य प्रत्येक कोष में होता रहता है और जब तक उनके संयोग द्वारा उनका लय नहीं किया जाता, संसार का द्वन्द्व-चक्र चलता रहता है। योगी उनका संयोग करके दोनों के लयक्रम का अभ्यास करता है और दोनों के लय (discharge) होने पर परम (absolute) तत्त्व को प्राप्त करता है। भक्ति-मार्ग ओर वेदान्त के निदिध्यासन से भी यही क्रम सिद्ध होता है, परन्तु वे लोग इस रहस्य को समझते नहीं हैं।

१—अन्नमयकोष में प्राण का स्वरूप वीर्य सत् शक्ति है और रज उसकी छाया, भोग्य रयि स्वरूप असत् शक्ति है। पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज के संयोग का फल प्रजनन शक्ति है, परन्तु अपने ही शरीर के अन्दर दोनों शक्तियों के योग से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इस क्रिया को ऊर्द्ध्वरेता अथवा ब्रह्मचर्य की क्रिया कहते हैं। इससे मन और प्राण दोनों का निरोध होता है। ब्रह्म-प्राप्ति का मुख्य साधन होने के कारण ही इसको ब्रह्मचर्य व्रत कहते हैं जिसका पालन चारों आश्रमों के लिए मान्य है। अध्यात्म-पथ का यह सिद्धान्त है कि उक्त शक्तियों के बहिर्मुख संयोग से प्रवृत्ति और अन्तर्मुख संयोग से निवृत्ति की सिद्धि होती है।

२—प्राणमय कोष में प्राण सत् शक्ति है और अपान उसकी छाया अथवा प्रतिक्रियारूप असत् शक्ति है। दोनों की बाहरी क्रिया का फल जीवन-मरण है और सुषुम्नागत अन्तर्योग द्वारा समाधि लगती है। वीर्य का अन्नमय कोष में और प्राण का प्राणमय कोष में निरोध होने से ओज की वृद्धि होती है। जैसे गन्धक के योग से मूर्छित होकर पारा सब रोगों की परम औषध बन जाता है, परन्तु अकेला कभी वश में नहीं आता और सेवन करने से मारक का कार्य करता है, वैसे ही वीर्य और प्राण भी अकेले वश में नहीं आते और हठात् निरोध करने से मनुष्य की मृत्यु का कारण बन जाते हैं। प्रतियोगी तत्वों के साथ संयोग होने से इनको बाँधा जाकर इनसे अध्यात्मोन्नति के स्तरों को ऊँचा उठाया जाता है जो भवरोग के लिए परम औषण्ध का कार्य करते हैं।

३—मनोमय कोष में सङ्कल्पों का निरोध करने वाली प्राण की सूक्ष्म शक्ति, जिसे मनोबल भी कहते हैं, सत् शक्ति है और सङ्कल्प-विकल्पों का उदयास्त करने वाली विरोधी शक्ति उसकी छाया स्वरूप असत् शक्ति है जिसको साधारण भाषा में मन ही कहते हैं। कहा है—'सङ्कल्पात्मकं मनः।' दोनों शक्तियों की बहिरक्रिया जाग्रत अवस्था एवं विचारों का उठना है और उनके विषयों की आसक्ति ही बन्धन का कारण है। परन्तु दोनों शक्तियों के अन्तर्योग द्वारा सङ्कल्पों का निरोध होकर ब्राह्मी स्थिति अथवा स्थितप्रज्ञता की उपलब्धि होती है।

४—विज्ञानमय कोष में अहम् रूपी विज्ञान शक्ति सत् शक्ति है और इदम् का ज्ञान असत् है। दोनों की बहिरक्रिया का फल अविद्या है और

दोनों का लय होने पर आत्म-साक्षात्कार होता है। सङ्कल्प-विकल्पों का निरोध कर लेने पर ही अहन्ता का निरोध किया जाना सरल होता है, जैसा कि भगवान् ने कहा है 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।' सङ्कल्पों का निरोध होने से मन में बल की वृद्धि होती है और ध्यान की परिपक्वता में प्रगति होने लगती है। कहा है—

'न ह्यसंन्यस्त सङ्कल्पो योगी भवति कश्चन।'

—*गीता* ६, २

५—आनन्दमय कोष में सुषुप्ति लाने वाली शक्ति सत् शक्ति है और जागरण कराने वाली शक्ति असत् शक्ति है। कहा है—

'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति।'

—छान्दोग्योपनिषद् ६, ८, १

—"तब, हे सोम्य ! मनुष्य सत् शक्ति से सम्पन्न होता है और अपने अन्तरात्मा में लीन हो जाता है, इसलिए उसे सुषुप्ति कहते हैं।"

दोनों शक्तियों की बाहरी क्रिया का फल सुख-दुःखमय जीवन है और अन्तर्योग द्वारा निद्राजय होकर समाधि की प्राप्ति होती है।

प्रत्येक कोष में उक्त प्रतियोगी शक्तियों का योग किस प्रकार किया जाता है, यह अध्यात्म योगविद्या का विषय है। परन्तु जब तक सामान्य मनुष्यों में अध्यात्म शक्ति का जागरण नहीं होता, तब तक इनका योग करने का यत्न नीचे बताये गये अनुसार अवश्य करते रहना चाहिए, क्योंकि सब साधन परिश्रमसाध्य होते हैं। सत् शक्ति के संयम द्वारा असत् शक्ति का संयम स्वयं होने लगता है। असत् शक्ति सत् शक्ति की छायावत् प्रतियोगी होने के कारण सत् शक्ति के संयम से स्वतः निरुद्ध होकर सत् शक्ति में लीन होने लगती है। वीर्य की रक्षा और काम-वासना के संयम से रज स्वतः वीर्य की ओर खिंच आता है और दोनों का योग होने लगता है। इसी प्रकार प्राण के निरोध से अपान एवं मन का, अहन्ता के निरोध से इदन्ता का और निद्रा के जय से जागरण का संयम स्वतः सिद्ध हो जाता है और पाँचों कोषों की प्रतियोगी शक्तियों का योग सिद्ध होने पर उनके फलस्वरूप होने वाली क्रियाओं का निरोध होकर आत्मस्थिति की प्राप्ति स्वभावतः होने लगती है।

✧ ✧ ✧

पञ्चम विकास

प्रोणोपासना

या प्राणेन संभवति अदिति र्देवतामयी। गुहां प्रविश्य
तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत्।। एतद्वैतत्।।

—कठ० २, ७

प्राणोपासना का माहात्म्य छान्दोग्य, बृहदारण्यक और प्रश्नोपनिषद् में बड़े विस्तार से मिलता है, परन्तु प्रायः लोग यह नहीं समझते कि प्राणोपासना किस प्रकार की जाती है ? उपनिषदों के पढ़ने से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में प्राणोपासना के बल से सूखे वृक्षों में जीवन डाला जा सकता था और वह ब्रह्म-प्राप्ति का एक सर्वोत्तम साधन माना जाता था। परन्तु जो प्राणविद्या औपनिषद्कालीन ऋषियों के पास थी, वह आज कहीं दिखाई नहीं देती। हमारे विचार से तो आध्यात्मिक शक्ति को जगाना ही प्राण विद्या है क्योंकि इन्द्रियाँ और मन प्राण के वश में हैं और उनको वश में करने के लिए प्राणशक्ति का ही उत्थान होना आवश्यश्क है। मन्त्रों के जप, पूजा-पाठ, स्वाध्याय, यज्ञ-याग, धारणा-ध्यान, भक्ति-भाव, ज्ञान-वैराग्य एवं अन्य सभी आध्यात्मिक साधन उस शक्ति को जगाने में सहायक होते हैं।

अध्यात्म शक्ति का ही दूसरा नाम प्राणशक्ति है। उसे ही संवित् शक्ति, आह्लादिनी शक्ति और कुण्डलिनी शक्ति भी कहते हैं। परन्तु उसको जगाने के लिए ब्रह्मचर्य-पालन, प्राणायाम, तीव्र वैराग्य, षट्चक्रवेध की क्रियाएँ, चित्त की एकाग्रता और महापुरुषों का अनुग्रह अथवा भगवत्प्राप्ति की प्रबल इच्छा बहुत सहायक होती है। तथापि ऐसा भी देखा जाता है कि दीर्घ काल तक अनेक साधन करने पर भी पर्याप्त सफलता नहीं मिलती। इसका मुख्य कारण ब्रह्मचर्य की त्रुटि होती है। आज-कल की सन्तानों को वीर्य की क्षीणता पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिलती है। इसके सिवाय चिन्ता,—

चाहे रोटी की हो चाहे परीक्षाएँ पास करने की,—नवयुवकों को क्षीणवीर्य बनाने का बहुत बड़ा कारण है। क्रोध भी वीर्य को नष्ट करता है। क्रोध के वेग से रुधिर में एक प्रकार का विष उत्पन्न हो जाता है। ब्रह्मचर्य का तीसरा शत्रु भय है। देखा जाता है कि अधिक भय के कारण मल-मूत्र और वीर्य का स्राव हो जाया करता है। दुर्भाग्यवश भारत की सन्तानों को तीनों ही शत्रुओं का शिकार पाया जाता है।

वीर्य ही प्राण है और वीर्य की रक्षा काम, क्रोध, चिन्ता, भय, शोकादि से बचने से होती है। इसलिए प्रत्येक साधक को प्राण शक्ति की रक्षा के लिए ब्रह्मचर्य के पालन की अतीव आवश्यकता है।

प्रायः देखने में आता है कि भगवद्भक्ति के तीव्र वेग से आध्यात्मिक शक्ति का शीघ्र उत्थान हो जाता है, परन्तु सब से सरल, निष्कण्टक और निर्विघ्न उपाय किसी शक्ति-सम्पन्न समर्थ गुरु की कृपा ही है। इस विषय पर अधिक जानने की इच्छा रखने वालों को श्री १०८ शङ्कर पुरुषोत्तम तीर्थ स्वामी जी रचित 'सिद्ध योगोपदेश,' श्री १०८ योगानन्द जी ब्रह्मचारी रचित 'महायोग विज्ञान' एवं हमारे इस विषय पर लिखे अन्य ग्रन्थ, विशेषकर 'शक्तिपात' एवं अंग्रेजी में 'Divine Power' पढ़ने चाहिए।

प्राणायाम भी प्राणशक्ति को जागृत करने का एक प्रमुख साधन है। प्राणशक्ति के जागने पर इन्द्रियों का विषयों से प्रत्याहार और मन की एकाग्रता शीघ्र सिद्ध होने लगते हैं। प्राणायाम का अर्थ प्राणशक्ति पर संयम पाना है, परन्तु उस की स्थूल क्रियाएँ श्वास-प्रश्वास से ही सम्बन्ध रखती हैं, क्योंकि श्वास की गति को चलाने वाली शक्ति भी प्राणशक्ति का ही एक स्थूल रूप है। उसके संयम से ही शनैः-शनैः प्राणशक्ति जागने लगती है और साधक स्थूल से सूक्ष्म स्तरों पर चढ़ने लगता है। प्राण और मन का पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध होने से दोनों का उत्तरोत्तर संयम होने लगता है और साधक का मन सर्वाधिपति प्राण की डोर का सहारा लेता हुआ सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है। फिर सगुण की सहायता से निर्गुण की प्राप्ति बड़ी आसानी से हो जाती है। पातञ्जल योग दर्शन ने भी प्राणायाम की फल 'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्' (२, ५२) में प्रकाश (आत्मा) के आवरण का क्षीण होना बताया है। अर्थात् मल, विक्षेप और आवरण—तीनों दोषों को एक प्राणोपासना द्वारा ही हटाया जा सकता है।

प्राणमय कोष में प्राण तत्त्व की स्थूलरूपा एक प्रकार की विद्युत जैसी शक्ति है जो नाड़ियों द्वारा प्रवाहित हुआ करती है और एक मनुष्य

से दूसरे मनुष्य में भी वाणी, स्पर्श, दृष्टि अथवा रश्मियों द्वारा संक्रमित होती रहती है। शरीर में यही शक्ति इन्द्रियों की सञ्चालक है और कर्मेन्द्रियों का व्यापार इसी शक्ति से चलता है। सारे अङ्ग-प्रत्यङ्गो में क्रियात्मक नाड़ियों (efferent or motor nerves) का जाल व्याप्त है। इन नाड़ियों द्वारा यह शक्ति अन्नमय कोष को क्रियाशील बनाती है।

पकड़ने की, गति, विसर्जन, वाणी और मैथुन की शक्तियाँ कर्मेन्द्रियाँ कहलाती हैं। श्वास-प्रश्वास का कार्य कराने वाली शक्ति को प्राण, मल-मूत्रादि विसर्जन कराने वाली को अपान, पाचन शक्ति को समान, अन्न के रस को सारे शरीर में यथा-स्थान पहुँचाने वाली शक्ति को व्यान और सब अंङ्गो से खींचकर सब शक्तियों को ऊपर ले जाने वाली शक्ति को उदान कहते हैं जो मृत्यु और समाधि के समय विशेष रूप से कार्य करती है। भय के अथवा बड़ी ऊँचाई पर चढ़ते समय हाथ-पैरों में एक प्रकार का खिंचाव-सा प्रतीत हुआ करता है जिससे सिर घूमने लगता है। यह उदान का ही कार्य है। नेत्रों को खोलने, मींचने, पलक मारने की शक्ति को कूर्म, छींकने की शक्ति को नाग, डकार और क्षुधा-प्यास लगाने वाली को कृकल, निद्रा लाने वाली को देवदत्त और शरीर का सङ्गठन बनाये रखने वाली शक्ति को धनञ्जय कहते हैं। ये सब एक ही प्राण शक्ति के भेद हैं।

यह भली प्रकार समझ लेना आवश्यक है कि प्राण ऐसा तत्त्व है जो आत्मा से उत्पन्न होकर पाँचों कोषों का सञ्चालन करता है और समष्टिरूप से सकल चराचर जगत् उसी की परिणति का प्रसार है। प्राण की उपासना ब्रह्म की ही उपासना-मानी जाती है। कहा है —

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते ।।

—प्रश्नोपनिष्रद् ३, १२

—"प्राण की उत्पत्ति, व्याप्ति, स्थान, विभुत्व और पञ्चधा अध्यात्म स्वरूप जानकर मनुष्य मुक्त हो जाता है।"

प्राणो.....एवं विजानन्नतिवादी भवति तं चेद्ब्रू-
युरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रू यान्नापह्नुवीत।

—छान्दोगय ७, १५, ४

—"प्राण ब्रह्म है—ऐसा जानकर जो अतिवाद करता है, उससे यदि कोई कहे कि तू अतिवाद करता है, तो वह उसे उत्तर देवे कि मैं अतिवाद कर सकता हूँ। ऐसा कहने में संकोच न करें, क्योंकि जो ऐसा अतिवाद करता है, वह सत्य के आधार पर अतिवाद करता है।"

ऋषिकालीन युग में प्राणों की उपासना का बड़ा मान था, ऐसा उपनिषदों के पढ़ने से ज्ञात होता है। आज भी भोजन से पूर्व आचमन लेकर—'प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा'—कहकर पाँच छोटे-छोटे ग्रास लेकर प्राणों की आहुति देने की प्रथा चली आती है जो प्राणयज्ञ कहलाती है। परन्तु इसका रहस्य जाने बिना यह केवल एक रूढ़ी मात्र ही रह गई है। वास्तव में इन आहुतियों का अभिप्राय प्राणशक्ति का जागरण करना ही है क्योंकि अन्न से शुक्र, शुक्र से प्राण बनता है और प्राण के सहारे आत्मस्थिति की सिद्धि होती है।

छान्दोग्य उपनिषद् अध्याय ७ में उपनिषदुक्त नारद- सनतकुमार संवाद में सनतकुमार नारद जी को प्राणोपासना की महिमा बताते हुए कहते हैं कि नाम से वाणी, वाणी से मन, मन से सङ्कल्प, सङ्कल्प से चित्त, चित्त से ध्यान, ध्यान से ज्ञान, ज्ञान से बल, बल से अन्न, अन्न से आप्, आप् से तेज, तेज से आकाश, आकाश से स्मृति, स्मृति से आशा और आशा से प्राण बड़ा है। इसलिए नामब्रह्म, वाग्ब्रह्म, मनोब्रह्म, सङ्कल्प ब्रह्म, चित्त ब्रह्म, ध्यान ब्रह्म, ज्ञान ब्रह्म, बल ब्रह्म, अन्न ब्रह्म, आपो ब्रह्म, तेजो ब्रह्म, आकाश ब्रह्म, स्मर ब्रह्म, आशा ब्रह्म की उत्तरोत्तर उपासनापूर्वक प्राणब्रह्म की उपासना करनी चाहिए, क्योंकि प्राण ही सत्य है।

जो प्राणोपासक है, वह सत्य के आधार पर ब्रह्म के विषय में कह सकता है, अन्यथा ब्रह्म की बातें बनाना अतिवाद करना है। प्राण ही आनन्दस्वरूप है और वह समष्टि प्राण ही भूमा आनन्द है। जो मनुष्य किसी विषय का दावा करता है, वह सत्य के आधार पर ही दावा कर सकता है। जो जानता है, वह सत्य कह सकता है। जो मनन करता है, वह जानता है। जिस मनुष्य में श्रद्धा होती है, वह मनन करता है। जब निष्ठा होती है और सुख मिलता है, तब किसी कार्य को किया जाता है। सुख भी जितना अधिक होगा, उतना ही उस कार्य में मन लगता है और ब्रह्मानन्द ही भूमा आनन्द है। इसलिए भूमानन्द के लिए प्राणोपासना करनी चाहिए।

◇ ◇ ◇

षष्ठम् विकास

हिरण्यगर्भ अथवा विभु प्राण

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रेभूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम्।।

कभी-कभी कारणब्रह्म और कार्यब्रह्म भेद से ब्रह्म के दो भेद कहे जाते हैं। कार्यब्रह्म को सगुणब्रह्म भी कहते हैं। उसी का नाम हिरण्यगर्भ है, जैसा कि उपरोक्त श्रुति से स्पष्ट है।

अव्याकृत्यानि पञ्चमहाभूतानि पञ्चतन्मात्राणि च तत् कार्यं पञ्चप्राणादशेन्द्रियाणि मनो बुद्धि सप्तदशकं लिङ्गम्। अभौतिकं हिरण्यगर्भः, एतत् सूक्ष्म शरीरमात्मनः।।

अर्थात् पञ्चीकरण से पूर्व अविकृत पञ्चमहाभूतों की तन्मात्राएँ और उनके कार्य पाँच प्राण, दस इन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वों का लिङ्ग शरीर अभौतिक हिरण्यगर्भ कहलाता है अथवा सगुण ब्रह्म को ही हिरण्यगर्भ समझना चाहिए। उसका भौतिक शरीर विश्वरूपी विराट् देह है। सूक्ष्म शरीर प्राणमय है। समष्टि प्राण को ही हिरण्यगर्भ कहते हैं, परन्तु वह प्रत्येक प्राणि में समान रूप से विराजमान् है। इसलिए भगवत्पाद श्रीमच्छङ्कराचार्य महाराज ने समष्टि प्राण को हिरण्यगर्भ अधिदैविक प्राण कहा है जो व्यष्टि रूप से प्रत्येक प्राणी में अणुवत् आता, जाता और उत्क्रमण करता प्रतीत होता है (देखें 'अणुश्च' ब्रह्मसूत्र पर भाष्य)। योगी अपने अन्तर्हृदय में उसके दर्शनादि करके कृतार्थ होते हैं।

मुण्डकोपनिषद् के तीसरे मुण्डक की प्रथम वल्ली में 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि श्रुतियों में जीव और ईश्वर का वर्णन करते हुए कहा गया है कि दो युग्म पक्षी,—कभी पृथक् न होने वाले सखा,—एक ही शरीर रूपी वृक्ष पर रहते हैं। एक स्वादु फल खाता है, दूसरा कुछ न खाता हुआ साक्षिरूप

से देखता रहता है। अर्थात् जीव रूपी देहाभिमानी पक्षी इस शरीर के अधिष्ठान द्वारा कर्मों के शुभाशुभ फल भोगता है, दूसरा ईश्वर 'क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः' अविद्यादि क्लेशों, उनसे उत्पन्न होने वाले शुभाशुभ कर्मों एवं उनके सुख-दुःखरूप फलों और उनके संस्कारों से जन्म लेने वाली आशाओं से मुक्त, निर्लिप्त, भोगों को न भोगने वाला, केवल साक्षिवत् देखता रहता है। उसके साथ ही रहने वाला जीव देहासक्ति से जकड़ा हुआ, देह के तादात्म्याभिमान से बँधा हुआ, दीन बनकर शोक करता है और नाना विधि चिन्ताओं से व्याकुल होकर मूढ़ बना रहता है। परन्तु जब वह अपने साथी सखा को देखकर उसकी महिमा को जान लेता है, तब मोहासक्ति को छोड़कर वीतशोक हो जाता है। यह रूप हैरण्यगर्भ प्राणात्म देव का ही है जैसा कि आगे की दो श्रुतियों से स्पष्ट है—

यदा पश्यः रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।।
प्राणो ह्येष यः सर्व भूतैर्विभाति, विजानन् विद्वान भवते नातिवादी। आत्मकीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ।।
—मुण्डकोपनिषद् ३,१,३-४

—"जब वह जीव योग-उपासनादि से दीखने योग्य जगत् के उस कर्ता, ईश्वर, परमपुरुष कारण ब्रह्म को अपने साथ देखता है, जिसका वर्ण सुवर्ण सदृश है, तब वह ब्रह्मवेत्ता पाप-पुण्य दोनों से मुक्त होकर निरञ्जन, शुद्धस्वरूप की साम्यता को प्राप्त कर लेता है अथवा नाम-रूप रहित साम्यावस्थारूपी परब्रह्म भाव का अनुभव करने लगता है।"

"उपरोक्त ईश्वर का रूप प्राण ही है जो सब प्राणियों में प्रकाशमान् है। उसको जानकर वह विद्वान अतिवाद नहीं करता अर्थात् सन्देह नहीं करता। ऐसा आत्मकीड, आत्मरत, क्रियावान् योगी ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ है।"

उपरोक्त श्रुतियों का तात्पर्य है कि अव्यक्त, अक्षर, कूटस्थ, अप्राण, अमना, शुद्ध परब्रह्म के दर्शन नहीं हो सकते, परन्तु इस रुक्मवर्ण प्राणात्मक ईश्वर के दर्शन योगियों को होते हैं और वह साधक अपने अन्दर उसके साथ रमण करता है, क्रीड़ा करता है और बहुविधि क्रियाएँ करता है। उसको इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए क्योंकि सगुणरूप का दर्शन ईश्वर का साक्षात्कार ही है और इस रूप तक ही मन और इन्द्रियों की गति हो सकती है, आगे नहीं।

ऐसे आत्मदर्शन सत्य, तप, तत्त्वज्ञान और ब्रह्मचर्य के द्वारा अन्तरात्मा में होते हैं क्योंकि वह शुद्ध जयोतिर्मय ब्रह्मस्वरूप प्राणात्मक ईश अन्तर्हृदय में ही स्थित है। उसके दर्शन वे यति ही नित्य कर सकते हैं जो निष्पाप या क्षीणदोष हो गये हैं।

समष्टि प्राणात्मक हिरण्यगर्भ विभु होते हुए भी प्रत्येक प्राणि में अध्यात्मरूप से स्थित है। उसके ज्योतिर्मय दर्शन साधकों को बहुधा हुआ करते हैं। श्वेताश्वरतर उपनिषद् में उक्त ज्योतियों के दर्शन कई रूपों में होने बातये गये हैं और उनके दर्शनों को ब्रह्मप्राप्ति का पूर्व लक्षण कहा गया है। हम उन श्रुतियों को पाठकों के लाभार्थ नीचे उद्धृत करते हैं—

नीहार धूमार्कानलानिलानां खद्योत विद्रयुत्स्फटिका- शनीनाम्। एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्ति- कराणि योगे।।

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वात्भतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही, एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः।।
यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं, दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः।।

—श्वेताश्वतरोपनिषद् २, ११-१४-१५

—"साधनकाल में जब कुहरा, धुआँ, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत (जुगनू), विद्युत, स्फटिक, चन्द्रमा इत्यादि ज्योतियों के दर्शन होते हैं, वे ब्रह्म की अभिव्यक्ति कराने वाले पूर्वरूप होते हैं।"

—"मिट्टी से लिपे हुए बिम्ब जैसे गोल मण्डलाकार, अग्निमय, तप्त सुवर्ण की गोल मुद्रा के सदृश चमकते हुए, सुधा के सार स्वरूप आत्मतत्त्व को देखकर साधक मनुष्य एकान्त कृतार्थ, वीतशोक हो जाता है।"

—"जब योगी यहाँ दीपशिखा के सदृश आत्मतत्त्व से युक्त ध्यानावस्था में ब्रह्मतत्त्व को देखता है जो जन्म रहित, ध्रुव, सब तत्त्वों से शुद्ध है, तब उस देव को जानकर सब पापों से मुक्त हो जाता है।"

पातञ्जल योगदर्शन में इन ज्योतियों को विशोका अर्थात् सब शोकों को दूर करने वाली ज्योतियाँ कहा है। इनके दर्शन होने पर चित्त की वृत्तियों का निरोध होकर दृष्टा की स्वरूप में स्थिति होती है।

विशोका वा ज्योतिष्मती।

—योगदर्शन, १, ३६

ज्योतियों के दर्शन आत्मतत्त्व से निस्सरण होने वाली सूक्ष्म प्राणशक्ति के स्पन्द हैं और प्राण के स्पन्द का सर्वथा निरोध होने पर निर्विकल्प समाधि में जो अनुभव होता है, उसे विशुद्ध ब्रह्मज्योति का दर्शन समझना चाहिए।

संसुप्तवत् शून्यवत प्रतर्क्यं तन्मूलभूतं पदमामनन्ति।

—भागवत

विभु तक पहुँचने के लिए अणु का आश्रय लेना पड़ता है। समुद्र में पहुँचने के लिए नदी में नाव का आश्रय लेकर जाया जाता है। निस्पन्द प्राण को ही 'प्राणस्य प्राणम्' (बृहदारण्यक ४, ४, १८) अर्थात् ब्रह्म कहा जाता है। 'आत्मनः एषः प्राणो जायते'—आत्म तत्त्व से तैजस रश्मियोंवत् प्रस्फुटित प्राणशक्ति की किरणों की तरङ्गों को अणु प्राण कह सकते हैं, जैसे विभु समुद्र की लहरें अणुवत् प्रतीत होती हैं। इसलिए प्रत्येक प्राणी में व्यष्टिरूप प्राण हैरण्यगर्भ विभु प्राण की एक लहर है। श्वास-प्रश्वास की गति अथवा प्राण-अपानादि वृत्तियाँ उसी लहर के अवान्तर क्रियागत भेद हैं। उक्त क्रियाओं का प्रशमन व्यष्टि प्राण के निरोध से होना सम्भव है, कहा है—'प्राण बन्धनं हि सोम्य मनः'—(छान्दोग्य ६, ८, २)। व्यष्टि प्राण के निरुद्ध होने पर अणु का व्यक्तित्व विभु में लय हो जाता है, जैसे लहर के शान्त होने पर उसका व्यक्तित्व समुद्र में विलीन हो जाता है। यह अवस्था ही विभु की उपलब्धि कहलाती है। वास्तव में अप्राप्त की प्राप्ति को उपलब्धि समझा जाता है, परन्तु क्या लहर का अस्तित्व कभी समुद्र के आधार के बिना रह सकता है? इसी प्रकार सब वृत्तियों का आधार विभ आत्म तत्त्व भी नित्य बना रहता है।

इसलिए ज्योतिदर्शन के समय यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि वे सब दर्शन चेतन आत्म तत्त्व के ही दर्शन हैं, भौतिक सूर्य, चन्द्र, अग्नि के सदृश अचेतन प्रकृति के दर्शन नहीं हैं। कहा है—

हिरण्मये परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छु भ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्म विदो विदुः।।

—मुण्डकोपनिषद् २, २, ९

✧ ✧ ✧

सप्तम विकास

जीव और प्रकृति

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं में भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृति विद्धि में पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।

—गीता ७, ४-५

गीता में श्री भगवान् ने प्रकृति के दो रूप माने हैं - परा और अपरा। अपरा प्रकृति को आठ अङ्गों वाली बताकर सब विश्व को उसी का विकार कहा गया है। सांख्य ने इन्हीं आठ अङ्गों का विस्तार चौबीस तत्वों में किया है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश पाँच तत्व मुख्य हैं। उनकी ५ अपञ्चीकृत तन्मात्राएँ और पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत उन्हीं के अन्तर्गत हैं। उनसे सम्बन्ध रखने वाली ५ कर्मेन्द्रियों और ५ ज्ञानेन्द्रियों को मिलाकर कुल २० भेद होते हैं। मन, अहङ्कार, महत्तत्व और अव्यक्त - इन चार तत्त्वों को मिलाकर सांख्य के २४ तत्व होते हैं। बुद्धि के महत्तत्व का ही रूप होने से भगवान् ने महत्तत्व के स्थान पर बुद्धि कहा है।

अव्यक्त से महत्तत्त्व की व्यक्तता तीनों गुणों की साम्यावस्था भङ्ग होने पर (उनमें विषमता आने से) होती है। इसलिए अव्यक्त महत्तत्त्व का ही अव्याकृत मलरूप है। सबका मूल कारण होने से अव्यक्त को ही मूल प्रकृति और प्रधान भी कहते हैं। सारा जगत् उक्त ८ या २४ तत्वों का सङ्घात है। उक्त तत्वों के बने हुए शरीर जीवों के रहने के क्षेत्र हैं और जीव को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। क्षेत्रज्ञ का अर्थ है—'क्षेत्र का अभिमानरूपी ज्ञान रखने वाला।' जीव को प्रकृति के अन्तर्गत मानने के कारण भगवान् ने उसको परा प्रकृति कहा और कहा है कि सारे जगत् को धारण करने

वाली जीवरूप परा प्रकृति मेरा ही सनातन अंश है। आगे चलकर भगवान् ने यही भी कहा है कि सब क्षेत्रों में रहने वाला क्षेत्रज्ञ मुझको ही समझो।

जीव, ईश्वर और प्रकृति के तत्वों को समझने के लिए दार्शनिक विद्वानों का सदा युक्ति-तर्कयुक्त विवेचन रहा है और विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार इनके गूढ़ रहस्यों पर प्रकाश डालने का यत्न किया है, परन्तु सबका एक मत नहीं है। वेदों में श्रद्धा रखने वाले भारत के आचार्यों ने श्रुतिप्रमाण को सर्वोपरि स्थान दिया है तथापि उनमें मतभेद बना ही रहा है क्योंकि उन्होंने श्रुतियों को भी अपने विचारानुकूल ही अर्थवती बनाने के लिए खींचतान करने में कमी नहीं की है। पर एक बात जो सबको मान्य है, वह यह है कि जीव की सत्ता शरीर से भिन्न है और शरीर जड़ तत्वों का सङ्घात है। अंग्रेजी के भी एक कवि का कथन है—'Dust thou are to dust returnest, was not spoken of the soul—धूलि तू है, धूलि में मिल जायेगा—यह आत्मा के लिए नहीं कहा गया था।'

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।

—गीता २, २२

जैसे पुराने कपड़े उतारकर फेंक दिए जाते हैं, उसी प्रकार इस शरीर को छोड़कर नवीन शरीर ग्रहण कर लिया जाता है।

शरीर के भी तीन स्तर माने जाते हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। सांख्य, योग और वेदान्त—तीनों इस बात में एकमत हैं कि आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, चेतन- स्वरूप, चिन्मात्र, तीनों शरीरों से असङ्ग है। स्थूल शरीर तो पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों का पिण्डमात्र है और मरन पर भस्मान्त है, परन्तु सूक्ष्म शरीर के बारे में बहुधा मतभेद पाया जाता है। सूक्ष्म शरीर भी स्थूल शरीर के सदृश सूक्ष्म तत्वों का बना है और आत्मा उससे भी पृथक् है।

स्थूल और सूक्ष्म शरीरों में इतना भेद है कि स्थूल देह का त्याग होने पर भी सूक्ष्म शरीर जन्मान्तर की नवीन देह धारण करने के लिए कारण शरीर के साथ गमन करता है। सूक्ष्म शरीर ५ तन्मात्रा और उनके कार्य ५ प्राण, १० इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहङ्कार का और कारण

शरीर अव्यक्त का बना होता है। इच्छा, चेतना और सुख-दुःख का अनुभव सूक्ष्म शरीर के धर्म हैं। पूर्व जन्मों के अनुसार सञ्चित स्मृति, वासना एवं आशा के संस्कार प्रारब्ध बनकर इस जन्म का कारण बनते हैं जो कारण शरीर को बनाते हैं। यद्यपि आत्मा शुद्ध, चेतन सत्ता मात्र इन सबसे असङ्ग है, परन्तु इन सबकी चेतना का कारण वही है। आत्मा का यह शुद्ध स्वरूप सदा मुक्त है, परन्तु जब उसका चेतन प्रतिबिम्ब इन पर पड़ता है, तब इनकी उपाधि से अध्यारोपित अहंकृति में 'अहम् (मैं)' और 'मम (मेरे)' के भाव सहित कर्ता और भोक्ताभिमान का उदय हो उठता है। कहा है—

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।

—कठोपनिषद्

अर्थात् आत्मा मन और इन्द्रियों से युक्त होकर भोक्ता कहलाता है, ऐसा विद्वानों का कहना है। योगदर्शन की परिभाषा के अनुसार 'द्रष्टा दृष्टिमात्रः शुद्धोपि प्रत्ययानु पश्यः' (२, २० अर्थात् द्रष्टा (आत्मा) साक्षिमात्र शुद्ध होने पर भी बुद्धि के आधार से देखता है। जैसी बुद्धि होती है, वैसा ही आत्मा को ज्ञान होता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों से तादात्म्य रखने वाली चेतना (consciousness) जीव कहलाती है। कर्तृत्वाभिमान और भोक्तृत्वाभिमान के संस्कारोंयुक्त चेतनाभास ही जीव है। शुद्ध चेतन सत्तात्मक आत्मा कभी किसी उपाधि से युक्त नहीं होता, केवल उसकी चेतन प्रतिभा को मिथ्या अहङ्कार का प्रस्फुरण होता है कि मैं यह देह हूँ और इसके सुख-दुःखादि धर्म मेरे ही धर्म हैं, जैसे दीवार पर पड़ने वाला प्रकाश यह समझ बैठे कि मैं दीवार हूँ और उसके रूप-रंगादि धर्म मेरे ही धर्म हैं। इस बात को योगदर्शन इस प्रकार समझाता है :—

दृग्दर्शन शक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।

—योगदर्शन २, ६

अर्थात् देखने वाली शक्ति (आत्मा) और देखने के यन्त्र की शक्ति (बुद्धि) दोनों की एकात्मता-सी हो जाने पर 'मैं हूँ'—ऐसा भाव उदय होता है। यद्यपि चेतन और अचेतन विपरीतधर्मी हैं, उनकी एकात्मता हो नहीं सकती, परन्तु एकात्मता-सी प्रतीत होती है। इसी सोपाधिक तादात्म्य की

प्रतीति को भगवान् ने गीता में परा प्रकृति कहा है और उसे अपना सनातन अंश भी बताया है।

जीव को पुरुष भी कहते हैं। वह अपने शुद्ध स्वरूप में शिव है और अज्ञानवश माया मल, भोक्ता मल तथा आणव मल के आवरणों से अपने को माया के अधीन, भोगों का भोक्ता एवं आवागमन के चक्कर में पड़ा अल्पज्ञ समझता है। माया के अङ्गभूत काल, कला, नियति, अविद्या और राग—इन पाँच कञ्चुकों के आवरणों से आवृत होकर जीव अथवा पुरुष कहलाता है, इसलिए इन सातों को परा प्रकृति कहते हैं। यहाँ अविद्या का अर्थ प्रपञ्च का ज्ञान समझना चाहिए। कला से नामरूपात्मक वाचारम्भण मात्र ब्रह्म की १६ कलाएँ अथवा शैवागम की निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यातीता ५ कलाएँ समझनी चाहिएँ। प्राकृतिक नियमों को नियति कह सकते हैं।

अष्टम् विकास

बन्ध और मोक्ष

मनएव मनुष्याणाम् कारणं बन्ध मोक्षयोः।

'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति'—कहा है कि ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। 'जानत तुमहिं तुमहिं है जाई'— परम भक्त तुलसीदास जी ने भी ऐसा ही कहा है। उक्त श्रुति-वचन का क्या अभिप्राय है? क्या जीव और ब्रह्म दो भिन्न तत्त्व हैं ? यदि हाँ कहें तो दो भिन्न तत्त्व एक नहीं हो सकते और जीव का ब्रह्म बनना सर्वथा असङ्गत प्रमाणित होता है। यदि दोनों एक हैं तो फिर ब्रह्म को जानना, ब्रह्म को जानने वाला और ब्रह्म बनना इत्यादि का तात्पर्य क्या है?

'जानना' मन और बुद्धि का धर्म है। जैसा पहले कह आये हैं कि ये दोनों अपरा प्रकृति के अङ्ग हैं। आत्मा इनसे परे असङ्ग है। परन्तु मन और बुद्धि भी बिना आत्मा की चेतन सत्ता के नहीं जान सकते, इसलिए जानने की क्रिया आत्मायुक्त मन और बुद्धि में होती है। मन और बुद्धि से अयुक्त आत्मा शुद्ध परमज्ञानस्वरूप है, उसमें जानना या न जानना नहीं बनता। परन्तु मन और बुद्धि आत्मा को जान नहीं सकते, इसलिए कहा जाता है कि आत्मा से ही आत्मा जाना जाता है। जो आत्मा जानता है, वह बुद्धियुक्त होता है और जो जाना जाता है, वह बुद्धियुक्त नहीं होता। इसलिए कहा है कि—

दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्म दर्शिभिः।

—कठोपनिषद् ३, १२

जानने के पूर्व मन और इन्द्रियों में आसक्ति रखने वाले बुद्धियुक्त आत्मा को जीव कहते हैं और जानने के पश्चात् अनासक्त परमभाव को

ब्रह्मवित् मुक्तात्मा कहते हैं।

वास्तव में आत्मा न कभी बन्धन में आता है और न आ ही सकता है। उसको उपनिषदों और सांख्यादि दर्शनों ने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव बताया है। जो स्वभाव से ही नित्य मुक्त है, वह कभी किसी काल में बन्धन में नहीं पड़ सकता। फिर जीव के पापी, अज्ञानी तथा बन्धनयुक्त होने का क्या अर्थ है और मोक्ष-साधन की क्या आवश्यकता है ?

शास्त्रों में पाप और पुण्यों का वर्णन है और जीव को ही उनका कर्ता और भोक्ता माना गया है, ब्रह्म को नहीं। जीव लोकान्तरों में गमन करता है और आवागमन के चक्कर में पड़ा हुआ है। ब्रह्मसूत्रों में दूसरे अध्याय के तीसरे पाद में कर्त्राधिकरण के ३३ से ४०वें सूत्रों में सिद्ध किया गया है कि जीव बुद्धि के संयोग से ही कर्मों का कर्ता और भोक्ता है। ४०वें सूत्र के भाष्य में श्रीमच्छङ्कराचार्य कहते हैं— 'तस्मात् कर्तृत्वम यात्मनः उपाधिनिमित्तमेवेति स्थितम्' अर्थात् इसलिए यह सिद्ध होता है कि आत्मा का कर्त्तापन उपाधि निमित्त ही है।

उपाधि क्या है? 'इन्द्रियाणि मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्म-नीषिणः' —इन्द्रियाँ और मन ही वे उपाधियाँ हैं जिनके संयोग से आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व धर्म आते हैं। बाल्यावस्था में बुद्धि बीजरूप से किञ्चित् अंकुरित होती है और कई वर्षों में पूर्ण विकास पाती है, इसलिए बालक पाप-पुण्य के भागी नहीं होते। बन्धन में पड़े हुए जीवों के लिए पाप-पुण्य भोगने के स्थान स्वर्ग-नरकादि में जाना भी कहा गया है।

ब्रह्मसूत्रों के तीसरे अध्याय के प्रथम पाद में सूक्ष्म शरीर का पितृयान द्वारा चन्द्रलोक में जाना बताया गया है और पुण्य कर्मों के फल भोगने के पश्चात् शेष पुण्य-पाप मिश्रित कर्मों सहित फिर मृत्युलोक में जन्म लेने का वर्णन है जिसका भोगस्थान यह मृत्युलोक ही है। वहीं यह भी कहा है कि अनिष्ट कर्म करने वाले चन्द्रलोक में नहीं जा सकते। वे नरकों में पापों के फल भोगकर यहीं जन्म लेते हैं। ब्रह्मसूत्र के चतुर्थ अध्याय के दूसरे और तीसरे पादों में मोक्ष के लिए भी ब्रह्मलीन होने के पूर्व देवयान

मार्ग से अमानव पुरुष द्वारा ले जाये जाने का वर्णन है। यथा :—

चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति।

—छांदोग्योपनिषद् ४, १५, ५

इस श्रुति का वचन है कि क्रम-मोक्ष प्राप्त करने वालों के प्राण सुषुम्ना नाड़ी द्वारा निकलकर सूर्य की किरणों के मार्ग से अग्नि, वायु, विद्युत् प्रभृति अतिवाहकों के साथ सूर्य-मण्डल को जाते हैं और फिर उनको अमानव पुरुष ब्रह्मलोक में ले जाता है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि योगी और भक्तजनों की मुक्त आत्माएँ इस लोक से प्रयाण करते समय पहले आग्नेय, फिर वायव्य और उसके अनन्तर वैद्युत देह धारण करके अथवा ऐसे शरीरों पर सवार होकर सूर्य की किरणों के मार्ग से सूर्य-मण्डल को पार करके अमानव पुरुषों की सहायता से ब्रह्मलोक पहुँचती हैं और ये सब देह अतिवाहक यंत्र सदृश सवारियों का काम देते हैं। अर्थात् पार्थिव देह को छोड़कर उससे सूक्ष्म आग्नेय, फिर उससे भी सूक्ष्म वायव्य, तदनन्तर अधिक सूक्ष्म स्तरों पर चढ़ने के लिए सूक्ष्मतर वैद्युत् देहों रूपी अतिवाहकों (सवारियों) के आश्रय से स्थल से सूक्ष्म, सक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम लोकों को ऊद्र्ध्वगमन किया जाता है, अन्त में सूर्यमण्डल से भी सूक्ष्म स्तर पर प्राणमय शरीरधारी पुरुष, जो मनु की सृष्टि से ऊपर के निवासी हैं, उसे ब्रह्मलोक तक ले जाते हैं, क्योंकि प्राणतत्त्व ही सबका आदि सूक्ष्मतम तत्त्व है और चेतन होने के कारण अमानव पुरुष कहलाता है।

प्राण अपने कारण ब्रह्म में लीन होता है, अग्नि वायु में, वायु विद्युत् में जो आकाश (ether) का ही विकार है और आकाश प्राणतत्व में लीन होता है। इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहङ्कार सब महत् के विकार हैं और महत् तत्त्व को ही समष्टि प्राण द.ञ जाता है, इसलिए प्राण सूर्यमण्डल के ऊपर भी बने रहते हैं। उपाधियों के अपने-अपने कारणों में लीन होने पर उनके अभाव में आत्मतत्त्व अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है और इसी को ब्राह्मी स्थिति कहा जाता है।

ब्रह्म में लीन होने के समय सब उपाधियाँ अपने-अपने कारणों सहित प्राण में लीन हो जाती हैं। कार्यब्रह्म के सब उपासक क्रम मोक्ष से ब्रह्मलीन होते हैं, परन्तु निर्गुण में स्थिति रखने वाले मुक्तात्माओं को कहीं आना-जाना नहीं पड़ता। उनके मन, प्राण, बुद्धि यहीं तुरन्त लीन हो जाते हैं। सच तो यह है कि यह भी क्रम-मोक्ष ही है, अन्तर केवल इतना है कि इसमें समय नहीं लगता,—उसी क्षण सब तत्त्व अपने-अपने कारणों में लीन

होकर तुरन्त ब्रह्मगति हो जाती है। इसको कैवल्य मोक्ष कहते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह सिद्ध होता हैं कि जीव मनु-बुद्धि की उपाधियों के कारण देश-काल के आधीन आवागमन किया करता है। इसका अर्थ यह है कि शुद्ध आत्मा विभु, सर्वभूतान्तरात्मा होने पर भी इन्द्रियों, मन, बुद्धि के उपाधियुक्त बिन्दु पर चमकने के कारण अणुवत्, सावयव, परिमाणवाला-सा दीख पड़ता है या यों कहें कि उस विभु का सोपाधिक प्रत्याभास मन-बुद्धि की उपाधि में चमकने लगता है। परन्तु उपाधि के टट (हट) जाने पर विभु का विभुत्व ज्यों-का-त्यों दीखने लगता है, जैसा कि श्रीमच्छङ्कराचार्य जी ने ब्रह्मसूत्र २, ३, ११ के भाष्य में लिखा है—'बुद्ध्याद्युपाधि' निमित्तत्वस्य प्रविभाग प्रतिभा-नम्—परन्तु नासमझ उस परमात्मा को ही देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि की उपाधियों से परिच्छिन्न हुआ शरीरधारी जीव कहते हैं। (देखिये शाङ्करभाष्य, ब्रह्मसूत्र १,२,६) —

पर एवात्मा देहेन्द्रिय मनोबुद्ध्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्यते।

स्वामी विवेकानन्द ने जीव को एक ऐसे गोले (sphere) से उपमा दी है जिसका केन्द्र तो एक स्थान पर है, परन्तु जिसका वृत्त (circumference) कहीं भी नहीं है। उस एक स्थानीय केन्द्र के नष्ट हो जाने पर वह ऐसा गोला (sphere) रह जाता है जिसका केन्द्र कहीं भी नहीं अथवा सर्वत्र है और वृत्त (circumference) कहीं भी नहीं है। इसलिए जीव और ब्रह्म का अभेद सदा अविच्छिन्न रहते हुए भी उपाधि के निमित्त से जीव दीखने लगता है। उपाधि के योग से उस विभु, अकर्ता और प्रज्ञानात्मा की प्रतिभा अपने को अणु, कर्ता और उपाधि का अभिमानी समझने लगती है और इसीलिए वह अनित्य, भौतिक, भस्मान्त देह के एक न एक दिन अवश्यम्भावी नाश की आशङ्का से मृत्यु के भय से भयभीत, अनित्य विषय-सुखों का अन्त होने से त्रिविधिताप से सन्तप्त, शोक और चिन्ताओं से ग्रस्त, पाप कर्मों से पापी मलीन चित्त, विषयों के क्षणिक आनन्द में आसक्त होने के कारण लज्जित होता है और संसार के अनित्य सम्बन्धों की आसक्ति के मोहजन्य अनेक पाशों से अपने को बँधा हुआ मानता है। जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, भूख, प्यास, जाड़ा, गरमी आदि जो अनात्म भौतिक देह के ही धर्म हैं, इन्हें अपने ऊपर आरोपित करके त्रस्त होता है। अनन्त आशा-तृष्णाओं के जाल में फँसकर भ्रान्तचित्त आत्मविमुख भटकता रहता है। जब तक उक्त विपर्यय ज्ञान का किञ्चिन्मात्र

भी अध्यास बना है, तब तक जीवत्व के बन्धन से मुक्ति नहीं कही जा सकती और इससे रहित मुक्तात्मा ही शिव है।

आनन्दं ब्रह्मणों विद्वान न विभेति कदाचन।
कोऽत्रमोहः क शोकः एकत्वमनुपश्यतः ।।

"ब्रह्मानन्द का अनुभवी विद्वान कभी नहीं डरता। जब सर्वत्र एक ब्रह्म ही दीखने लगता है, तब मोह और शोक कैसा?"

आत्मा सदा सर्वथा शिवरूप है। क्या कभी वह पापी, अज्ञानी और दुःखी हो सकता है? वह तो अनात्म देह में अविद्या स्वरूप आत्मबुद्धि रख कर उस जड़ात्म देह के धर्मों का अपने ऊपर अध्यारोप करके रोता-हँसता रहता है। एक बालक अन्य बालकों के साथ खेल-कूद में गिरता-पड़ता चोट खाकर भी हँसता-खेलता रहता है और जब घर आने पर उसकी माँ उसके शरीर में लगी चोट से रुधिर टपकता देखकर उसका ध्यान उसकी ओर दिलाती है तो वह रुधिर देखकर अपने को दुःखी मानकर रोने लगता है। इसी प्रकार एक बालक कोई अपराध होने पर अपने माता-पिता से मार खाकर अति दुःखित होता है और रोता-चिल्लाता है, परन्तु अन्य सखा-बन्धुओं के आने पर सब दुःख भूलकर हँसने-खेलने लगता है।

भौतिक जड़ देह और चेतन आत्मा दोनों विपरीत और विरोधी धर्म वाले होते हैं। आत्मा अपने ही तेज से जड़ तत्वों का चेतन, नित्य, पवित्र और आनन्द का स्थान बना कर, उनसे तादात्म्य करके, अपने को जन्म-मरणवाला अनित्यवत्, अपवित्र, पापी, दुःखी, शोक, मोह और विविध चिन्ताओं से ग्रस्त अनुभव करता है। पारस्परिक विपरीत धर्मों का यह इतरेतर मिथ्या अध्यारोपण ही अज्ञान, अविवेक अथवा अविद्या कहलाता है।

हम ऊपर भी समझा चुके हैं कि प्रकाश और प्रकाश्य वस्तु-विषयों के योग से उस वस्तु के आकार, वर्ण आदि धर्म प्रकाशित होते हैं। प्रकाश स्वयं उस प्रकाशित वस्तु का नाम-रूप ग्रहण नहीं करता। उस प्रतिभासित प्रकाश में दृश्यमान् वस्तु के कोई गुण नहीं आते। जैसे स्फटिक के पास में रखे पदार्थ के रंग की झलक स्फटिक की स्वच्छता में किञ्चित् भी रंग नहीं ला सकती, केवल उस पर मिथ्या अध्यारोप मात्र रहता है। इसको अध्यारोपाध्यास कहते हैं।

आत्मा की प्रतिभासित द्युति में देह के गुणों का अध्यास होता है जिससे वह शुद्ध प्रज्ञानात्मा देह का अभिमानी बन कर अहन्ता, ममता का मान करने लगता है, इन्द्रियों के विषयों के संसर्ग से अपने आप को कर्ता-भोक्ता समझकर सुखी-दुःखी होता है और पूर्णकाम होता हुआ भी नाना आशा-तृष्णाओं से व्याकुल रहता है। अनादि काल के अभ्यास से यह अध्यास इतना सुदृढ़ हो गया है कि युक्ति, तर्क और शास्त्रों के प्रमाणों अथवा सन्त-महात्माओं के उपदेश सुनकर भी बड़े-बड़े धुरन्धर शास्त्रज्ञ भी इस मिथ्या अध्यास को नहीं छोड़ सकते। यद्यपि वे जीव-ब्रह्मैक्य का शाब्दिक ज्ञान सदा बधारा करते हैं, परन्तु आत्म तत्त्व को न चीन्हने के कारण साधारण मनुष्यों के तुल्य ही सुखी-दुःखी होकर राग-द्वेष में फँसे रहते हैं, अथवा राग-द्वेष के वशीभूत होकर अपने को सुखी या दुखी बनाते हैं और देहासक्ति से बँधकर मृत्यु के भय से सदा संत्रस्त रहते हैं।

यद्यपि ऐसे लोग व्याख्यानों, प्रचचनों और शास्त्रार्थों में प्रबल युक्ति एवं पाण्डित्य के बल पर जीव-ब्रस्मैक्य का प्रतिपादन करने में कभी हार नहीं मानते, पर क्या ब्रह्मवार्ता में कुशल ऐसे ब्रह्मज्ञानी आवागमन से मुक्त हो सकते हैं ? इस मिथ्या अध्यास को काटने के लिए उपासना, योग और साधनों द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होन पर सदा ब्राह्मी वृत्ति बनाये रखने का दृढ़ अभ्यास अनिवार्य रूप से आवश्यक है। शङ्कर भगवत्पाद का कहना है :—

कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिनः।
तेऽप्यज्ञानितमो मूढ़ा पुनरायान्ति यान्ति च।।

—अपरोक्षानुभूति

नवम विकास

परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञान

न गच्छति बिना पानं व्याधिरौषध शब्दतः ।
विनाऽपरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते ।।

—विवेक चूड़ामणि ६४

'अहम् ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ, 'तत् त्वमसि' वह तू ही है, 'अयमात्मा ब्रह्म' यह आत्मा ब्रह्म है, 'प्रज्ञानं ब्रह्म' प्रज्ञान ब्रह्म है,—इन श्रुति-प्रतिपादित महावाक्यों का ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान 'ज्ञान' कहलाता है। इसको तर्क, युक्ति, प्रमाणों द्वारा सिद्ध करके समझना परोक्ष ज्ञान है और आत्मानुभव द्वारा आत्म-स्वरूप को पहचानकर ब्रह्मात्मैक्य का बोध होना अपरोक्ष ज्ञान है। जैसा कि उपरोक्त श्लोक का भाव है कि बिना औषध पान किये केवल शब्दों से नुसखे सुनने मात्र से व्याधि नहीं जाती, इसी प्रकार बिना अपरोक्षानुभव के ब्रह्मज्ञान के सुनने मात्र से व्याधि नहीं जाती, इसी प्रकार बिना अपरोक्षानुभव के ब्रह्मज्ञान के सुनने मात्र से मोक्ष नहीं होता। अपरोक्षानुभव का लक्षण नीचे दिये श्लोक में श्रीमच्छङ्कराचार्य ने इस प्रकार कहा है :—

अकृत्वा दृश्यविलयमज्ञात्वा तत्वमात्मनः।
बाह्यशब्दैः कुतो मुक्तिरुक्ति मात्र फलैर्नृणाम।।

—विवेक चूड़ामणि ६५

"दृश्या का विलय किये बिना और आत्मतत्त्व जाने बिना मनुष्यों को बाह्य शब्दों के कथन मात्र के फलस्वरूप मोक्ष कहाँ ?"

बहुधा देखा जाता है कि प्रायः लोग वेदान्त-वाक्यों को पढ़-सुनकर

उनके शाब्दिक परोक्ष ज्ञान से ही बिना किसी अपरोक्षानुभव के अपने को कृतकृत्य मानने लगते हैं। उनकी गति श्रवण-मनन के ऊपर नहीं जाती और वे एक प्रकार की मिथ्या तुष्टि से अकर्मण्य हो जाते हैं। ऐसे मनुष्यों को विरोचन की श्रेणी में ही समझना चाहिए जो आत्मा को न पहचानकर देहात्मबुद्धि में ही 'अहं ब्रह्मास्मि' की भावना करता रहा। इसका कारण श्रीशङ्कराचार्य निम्न श्लोक में कहते हैं :—

विवेकिनो विरक्तस्य शमादिगुणशालिनः ।
मुमुक्षोरेव हि ब्रह्मजिज्ञासा योग्यतामता ।।

—विवेक चूड़ामणि १७

"विवेक, वैराग्य और शमादि षट्-सम्पत्तियुक्त मुमुक्षु को ही ब्रह्मजिज्ञासा की योग्यता होती है, ऐसा सबका मत है।"

वही मनुष्य वेदान्त का अधिकारी माना गया है जिसको मोक्ष की इच्छा उत्पन्न हो चुकी हो और मोक्ष की इच्छा विवेक, वैराग्य और षट्सम्पत्ति से सम्पन्न मनुष्य को ही उदय हो सकती है। शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान—इन छः साधनों को आध्यात्मिक यात्रा करने वाले पथिकों के लिए सदा साथ में रखने योग्य आवश्यक सम्पत्ति समझा गया है, इसलिए इनको षट्-सम्पत्ति कहते हैं।

शम अर्थात् मनोनिरोध तीव्र वैराग्य का फल है। विषयों की वासना से चित्त की वृत्तियाँ बहिर्मुखी रहती हैं और उनको भोगों द्वारा तृप्त करने का जितना अधिक यत्न किया जाता है, उतना ही अधिक वे चित्त को क्षुब्ध एवं अशान्त करती हैं, यह सर्वसाधारण का अनुभव है। उनको शान्त करने का मार्ग विषयों का भोग नहीं वरन् निवृत्ति ही है जो बिना वैराग्य के नहीं आती। फिर वैराग्य का भी स्थाई रहना अनिवार्य है, स्मशान वैराग्य से काम नहीं चलता, क्योंकि वासना रूपी संस्कार जब तक समूल दग्ध नहीं होते, तब तक उनमें बीज की तरह कभी भी वृक्ष बनने की शक्ति बनी ही रहती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।

—*गीता*

बन्धन में पड़े जीवों की इन्द्रियाँ भी आहार न मिलने से शिथिल होकर विषयों से निवृत्त हो जाया करती हैं, परन्तु क्या उनकी वासनाएँ

नष्ट हो सकती हैं? वे तो तत्त्वदर्शन के उपरान्त ही दग्धबीज होती हैं। यहाँ आहार का इन्द्रियों के विषयरूपी भोगों से अभिप्राय है। यदि इन्द्रियों को उनके विषयों से अलग रखा जाय तो वे उस समय के लिए वश में आई हुई-सी दीखने लगती हैं, परन्तु दीर्घकाल की निवृत्ति के पश्चात् भी विषयसङ्ग होने पर उनकी विषयासक्ति पूर्ववत् जाग उठती है। वासना का क्षय आत्मसाक्षात्कार होने पर ही होता है और वही परम वैराग्य की भूमिका है।

अन्य वासनाओं की तरह काम-वासना भी एक इन्द्रिय-सुख की वासना है और काम-वासना का त्याग करके तत्सम्बन्धी विषय से निवृत्तिपरायण होने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। ब्रह्मचर्य ही ब्रह्मप्राप्ति के लिए समुचित चर्या है, क्योंकि वीर्य-रक्षा के बिना अध्यात्म-योग की उपलब्धि सर्वथा असम्भव है। परन्तु जो मनुष्य बलात् वीर्य की रक्षा करने का यत्न करते हैं, उनको बहुधा स्वप्नदोष, प्रमेह, उन्माद, ज्वरादि का रोगी देखा जाता है। जब तक मनुष्य ऊर्ध्वरेता नहीं होता, वीर्य की रक्षा नहीं होती और काम-वासना के शान्त होने के पूर्व ऊर्ध्वरेता होना दुर्लभ है।

ब्रह्मचर्य पालन के बिना मनन-निदिध्यासन असाध्य है। थोड़ा-सा भी मस्तिष्क पर जोर पड़ने से या तो निद्रा आ जाती है या सिर में दर्द होने लगता है। ऐसा मनुष्य अधिक चिन्तन नहीं कर सकता। यदि मनन करने में कुछ सफलता भी मिल जाय, तो भी निदिध्यासन का कार्य तो उसके वश का कभी है ही नहीं। कहा है—'नाऽयात्मा बलहीनेन लभ्यः।' वीर्य की रक्षा से प्राणशक्ति का विकास होता है और प्राणशक्ति के बल से मन में बल आता है। प्राण के निरोध से ही मन का निरोध होता है। इसलिए ब्रह्मचर्य भी चित्त की एकाग्रता के लिए एक अनिवार्य साधन है।

इन्द्रियों के निग्रह को ही दम कहते हैं। मनोनिग्रह के साथ इन्द्रियों का भी निग्रह होने लगता है, परन्तु जब तक मन का निग्रह नहीं होता, इन्द्रियों का निग्रह करना असम्भव है:—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।

—*गीता* ३, ६

—"जो कर्मेन्द्रियों का संयम करके मन से विषयों का स्मरण करता

रहता है, वह मूर्ख मनुष्य मिथ्या आचरण वाला कहलाता है।"

इन्द्रियों के निग्रह को प्रत्याहार भी कहते हैं। प्रत्याहार अष्टाङ्ग योग का पाँचवाँ अंङ्ग है —

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

—योगदर्शन २, ५४

—"अपने विषयों से हट जाने पर चित्त की स्वरूपाकार जैसी वृत्ति को इन्द्रियों का प्रत्याहार कहते हैं।"

वास्तव में प्रत्याहार का पूर्व अङ्ग दम है और उत्तर अङ्ग उपरति है। दम एवं उपरति दोनों को प्रत्याहार कहा जा सकता है। चित्त की आत्माकारवृत्ति उदय होने पर इन्द्रियों में उनके विषयों के प्रति राग-द्वेष नहीं रहता और राग-द्वेष छोड़कर इन्द्रियों से उनके विषयों के भोग भोगे जायें तो चित्त की साम्य स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। इसलिए इन्द्रियों को विषयों से हटाने का तात्पर्य उनको राग-द्वेष मुक्त करना है, विषयों का त्याग करना नहीं है। परन्तु इन्द्रिय-दमन और उपरति दोनों एक-दूसरे के सहायक हैं, यद्यपि ऐसा भी देखा जाता है कि इन्द्रियों के रोकने मात्र से उपरति की सिद्ध नहीं होती।

इन्द्रियों से विषयों का त्याग करना एक बात है और मन में उनकी स्पृहा न होना दूसरी बात है। विषयों से उपरति होने पर चित्त भोगों से हट जाता है। विषयों के मिलने और उनके सामने उपस्थित होने पर भी मन नहीं चलता, वरन् तृप्त-सा रहने के कारण उपरत कहलाता है। अर्थात् मन भरा हुआ रहने लगता है और भोगों की स्पृहा नहीं करता। ऐसे मनुष्य को भोगों से घृणा नहीं होती, न भोगने की शक्ति ही कम होती है, क्योंकि ये लक्षण रोग और निर्बलता के द्योतक हैं। उपरत योगी की इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के भोगने में समर्थ और स्वस्थ रहती हैं। इतना ही नहीं, उनकी भोगने की शक्ति पहले की अपेक्षा बढ़ जाती है। परन्तु योगी का मन इतना शान्त हो जाता है कि कोई विषय उसको प्रलोभन देकर आकृष्ट नहीं कर सकता। तब उस योगी में दुःखों को सहन करने की क्षमता आती है। जाड़ा, गरमी आदि द्वन्द्वों को सहन करने की क्षमता को तितिक्षा कहते हैं। अर्थात् वह तितिक्षु योगी दुःखों से उद्विग्न नहीं होता। 'शान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षु' यदि शास्त्र और गुरु-वाक्यों

में श्रद्धा करेगा तो जीव-ब्रह्मैक्य के सिद्धान्त को मानकर उस पर मनन करेगा। मनन के लिए एकाग्र समाहित चित्त की आवश्यकता है।

चित्त की सम स्थिति को समाधान कहते हैं। व्यास जी ने वित्त की मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध—पाँच अवस्थाएँ कही हैं। एकाग्र अवस्था का अनुभव योगियों को ही होता है। उस अवस्था में सङ्कल्प-विकल्प उदयास्त होने बन्द हो जाते हैं और वह अन्तर्मुखी होकर आत्मरमण करने लगता है। इस अवस्था का वर्णन श्रीभगवान् ने गीता के दूसरे अध्याय के अन्तिम १८ श्लोकों में किया है और उसी को ब्राह्मी स्थिति कहा जाता है। मूढ़ अवस्था तमोगुण प्रधान होती है जो आलस्य, निद्रा-तन्द्रायुक्त रहती है। इसी अवस्था में आत्म-चिन्तन नहीं हो सकता, परन्तु बहुत-से लोगा इसमें ही मस्त रहते हैं। क्षिप्त और विक्षिप्त अवस्थाओं में रजोगुण रहता है।

उक्त तीनों अवस्थाओं में मल और विक्षेपों के कारण आत्म-चिन्तन नहीं हो सकता। जब चित्त में एकाग्रता एवं समता आ जाती है, तब तमोगुण और रजोगुण को सत्वगुण दबाने लगता है, बुद्धि स्वच्छ और निर्मल होने लगती हैं तब विचारशक्ति और मेधा स्मृति में बल आता है। वह मनुष्य प्रत्येक विषय को भली प्रकार सोच-समझकर शान्त चित्त से बिना विक्षेप अथवा आलस्य-तन्द्रा के आत्म-चिन्तन में लगने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। तब कहीं उसको ध्यान-समाधि स्वरूप निदिध्यासन का अभ्यास करने की योग्यता आती है। इसलिए वेदान्त का अधिकारी बनने के पूर्व मुमुक्षु को समाहित- चित्त बनने अर्थात् सङ्कल्प-विकल्पों से रहित एकाग्र अवस्था की परपिक्वता प्राप्त करने के लिए योगाभ्यास की अति आवश्यकता है।

येषां वृत्ति समावृद्धा परिपक्वा च सा पुनः ।
ते वै सद्ब्रह्मतां प्राप्ता नेतरेशब्दावादिनः।।

—अपरोक्षानुभूति १३२

अर्थात् जिनकी वृत्ति की समता बढ़कर दीर्घकाल तक रहने लगी है और फिर वह परिपक्व होकर अखण्ड हो गई है, वे ही सद्ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, दूसरे शब्द मात्रों के वादी लोग ब्रह्मवित् नहीं कहे जा सकते जो वृथा 'अहं ब्रह्मास्मि' कहते फिरा करते हैं।

बहुधा देखने में आता है कि बहुत से लोग परोक्ष वाचक ज्ञान से

ही यह समझ बैठते हैं कि अब कुछ करना शेष नहीं रहा। कर्म का फल ज्ञान न होने और योग-उपासना सबको कर्म का ही अङ्ग समझने के कारण वे इनकी अवहेलना करके अपने को कृतकृत्य एंव पाँचवीं-छठी भूमिका का ज्ञानी समझने लगते हैं। ऐसी अवस्था में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है।

मनन के फलस्वरूप मनुष्य कुछ समय के लिए आत्म-सम्मोहित (hypnotized) —सा हो जाता है। यद्यपि यह अवस्था भी कुछ अंश तक चित्त को समाहित करने में सहायक होती है, परन्तु साधक को अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए पर्याप्य नहीं होती और उसकी उन्नति में बाधक हो सकती है। ऐसा साधक मनोमय कोष में भी ऊँचा नहीं उठ पाता,— उसको आत्मानुभव का अपरोक्ष ज्ञान होना तो दूर की बात है ! इसलिए साधक को चाहिए कि वह अपनी परीक्षा करता रहे कि कौन-कौन से मुख्य लक्षण बन्धन के द्योतक हैं ? जब तक उनसे मुक्ति नहीं मिलती, जीवनमुक्ति की भूमिका का स्वप्न भी देखना दुर्लभ है। भगवत्पाद श्रीमच्छङ्कराचार्य विवेक-चूड़ामणि में बन्धन का निरूपण इस प्रकार करते हैं :—

बीजं संसृति भूमिजस्य तु तमो देहात्मधीरंकुरो ।
रागः पल्लवमम्बु कर्मतु वपुः स्कंधोऽसवः शाखिकाः ।।
अग्रणीन्द्रियसंहतिश्च विषयाः पुष्पाणि दुःखं फलं।
नाना कर्म समुद्भवं बहुविधं भोक्तात्र जीवः खगः ।।
अज्ञान मूलोऽयमनात्म बंधो नैसर्गिकोऽनादिरनन्तईरितः।
जन्माप्यय व्याधि जरादि दुःख प्रवाहपातं जनयत्यमुष्य ।।

—विवेक चूड़ामणि १४६, १४७ १४८

—"संसाररूपी वृक्ष का बीज (तम) अविद्या है, देहात्म-बुद्धि रूपी अहङ्कार अथवा अस्मिता अंकुर है, राग पल्लव है, कर्म जल है, शरीर स्कन्ध अर्थात् तना है, प्राण शाखा है, इन्द्रियाँ टहनियाँ हैं, विषय पुष्प हैं, दुःख फल हैं जो नाना बहुविधि कर्मों से उत्पन्न होते हैं और उनका भोक्ता जीव रूपी पक्षी है। अज्ञान से उत्पन्न होने वाला यह अनात्म-बन्धन स्वाभाविक है और अनादि, अनन्त कहा गया है। यह जन्म-मरण-जरा-व्याधि आदि के दुःख के प्रवाह-प्रपात को उत्पन्न करता है।"

यहाँ बन्धन का प्रथम कारण अविद्या को कहा गया है। उसे ही तम कहते हैं वह संसाररूपी वृक्ष का बीज है। योग दर्शन उसे अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश, इनसे उत्पन्न होने वाले कर्म, कर्मों के फल और वासना—इन सबकी खेती के लिए क्षेत्र कहता है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप पाँच कोशों की उपाधि से तिरोहित रहता है जिनमें आत्मा ने अविद्या से तादात्म्य कर रखा है। पाँचों कोश प्रकृति के विकार हैं। उनके साथ तादात्म्य करके आत्मा को देहाभिमान होता है। स्थूल भौतिक देह अन्न से बनने के कारण अन्नमय कोश कहलाता है। मूढ़ मनुष्यों से लेकर शास्त्रों के विद्वान् पंडितों, अपने को ज्ञानी समझने वाले संन्यासियों और यतियों को भी स्थूल देह में आत्मबुद्धि रहती है जिससे वे कहते हैं कि मैं मोटा, पतला, काला, गोरा, रोगी और स्वस्थ आदि हूँ। इसलिए उनको देह का त्याग न होने की स्वाभाविक प्रबल वासना बनी रहती है। इसे योगदर्शन ने अभिनिवेश क्लेश कहा है। इसको मृत्यु का भय भी कह सकते हैं—

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ।

—योगदर्शन २, ९

--"स्वभाव से ही विद्वानों में भी वैसा ही आरूढ़ अभिनिवेश क्लेश है।"

अन्नमय कोश का बन्धन ही अविद्या है। देह के अध्यास से अनित्य, अनात्म भौतिक पिण्ड में आत्मबुद्धि और नित्यता की भावना, मल-मूत्रादि के अपवित्र कोश में पवित्रता की भावना और उसके द्वारा प्राप्त होने वाले दुःखमय भोगों में सुख की आशा,—यही चतुर्विध अविद्या सबके बन्धन का करण है। जब इनसे विपरीत भावनाओं की स्वाभाविक और दृढ़ धारणा हो जाती है, तभी साधक जीवनमुक्त कहलाने का अधिकारी कहा जा सकता है।

धारणा विचार को नहीं कहते। वह मन की एक अवस्था है। विचार तो हर समझदार मनुष्य को आया ही करता है कि मैं देह नहीं हूँ, परन्तु मनुष्य का स्वभाव, आदत अथवा चित्त का दृढ़ संस्कार उसको इस विचार के अनुकूल भाव में नहीं रहने देते। यह अनादि मिथ्या अध्यास है जो केवल विचारों द्वारा नष्ट नहीं होता वरन् अष्टाङ्ग योग आदि अनेक साधनों की अपेक्षा रखता है। हाँ, मनोबल अथवा सङ्कल्पों की दृढ़ता को, जो विचार से भिन्न है और मन की धारणा- शक्ति से सम्बन्ध रखती है,

पुष्ट करने में विचार और युक्तियाँ अवश्य सहायक होती हैं। वे उक्त अविद्या के गढ़ का थोड़ी देर के लिए वेध करने में सफल होती हैं, जैसा कि बहुधा देखा जाता है कि मन कड़ा करके मनुष्य भारी कष्टों को भी सहन कर जाता है।

इसी मनोबल को बढ़ाकर निरन्तर ब्रह्मभाव में भी रहा जा सकता है। परन्तु मन को हठ-निग्रह से वश में लाना बड़ा कठिन कार्य है। बड़े-बड़े विचारशील भी मन से हार मानते हैं। वह न विचारों से मानता है, न हठ-निग्रह से। मन को रोकने के लिए मनोबल बढ़ाने वाले साधनों की ही आवश्यकता है। अस्मिता का स्थूल रूप देहाभिमान है। कर्तृ- त्वाभिमान इससे सूक्ष्म है।

पहले कह आये हैं कि अन्नमय कोश में एक विद्युत जैसी प्राण शक्ति नाड़ियों में प्रवाहित होती रहती है और स्थूल देह की सब क्रियाएँ उससे सञ्चालित होती हैं। यह प्राण शक्ति तीन रूपों में व्यक्त होती है—(१) क्रिया शक्ति, (२) संज्ञाना शक्ति और (३) इच्छा शक्ति। क्रिया शक्ति क्रियात्मिका नाड़ियों (efferent or motor nerves) द्वारा कार्य करती हैं, संज्ञाना शक्ति संज्ञानात्मिका नाड़ियों (sensory nerves) द्वारा कार्य करती हैं और इच्छा शक्ति मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार—इस अन्तःकरण चतुष्टय के द्वारा कार्य करती है। क्रिया शक्ति के कोश को प्राणमय कोश कहते हैं जो अन्नमय से सूक्ष्म है। जैसे अन्नमय कोश में तादात्म्य-बुद्धि होती है, वैसे ही प्राणमय कोश में भी होती है। प्रथम को देहाभिमान और दूसरी को कर्तृत्वाभिमान कहते हैं जिससे मनुष्य कहता है कि मैं चलता हूँ, बैठता हूँ, खाता हूँ, पीता हूँ, ग्रहण करता हूँ अथवा अनेक कार्य करता हूँ। यह कर्ता होने का अभिमान देहाभिमान से सूक्ष्म है और बन्धन का कारण है।

इससे भी सूक्ष्म भोक्तृत्वाभिमान है। संज्ञानात्मिका शक्ति सूँघने, चखने, देखने, छूने और सुनने की पाँच शक्तियों के द्वारा मन से बाह्य दृश्य के ज्ञान का सम्बन्ध जोड़ती है। मन इनके आधार पर सङ्कल्प-विकल्प किया करता है और बुद्धि तदनुसार विवेचन करती है। मन और बुद्धि का सम्बन्ध कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों से रहता है, परन्तु दोनों का क्षेत्र भिन्न है। मन के क्षेत्र को मनोमय और बुद्धि के क्षेत्र को विज्ञानमय कोश कहते हैं। विज्ञानमय कोश मनोमय से सूक्ष्म है। विज्ञानमय कोश का कार्य केवल

विवेचन करने तक ही सीमित है, इसलिए उसका अभिमान भोक्तृत्वाभिमान कहलाता है।

देहाभिमान और कर्तृत्वाभिमान दोनों तो थोड़े अभ्यास और वैराग्य से कुछ कम भी हो जाते हैं, परन्तु भोक्तृत्वाभिमान साधारण मनुष्यों का सदा बना रहता है। विचारशील दार्शनिक, वैज्ञानिक और अन्य गहन विचारों में रमण करने वाले प्रकर्ष मेधा बुद्धि वाले विद्वानों का मनाभिमान, जब वे अपने विचारों में तन्मयता प्राप्त कर लेते हैं, तब उस समय के लिए लीन हो जाया करता है और फिर पूर्ववत् उदय हो जाता है। परन्तु योगी अपने मन को सङ्कल्प-विकल्प रहित समाहित साम्यावस्था में रखने के निरन्तर अभ्यास द्वारा अपने भोक्तृत्वाभिमान को हटा सकता है। इस अभ्यास को श्री भगवान् ने गीता में बुद्धियोग कहा है।

सूक्ष्म बुद्धि से मनोमय और विज्ञानमय के अभिमान की विभाग-रेखा को समझा जा सकता है। स्मृति, मेधा, प्रज्ञा, विज्ञानमय कोश के अङ्ग हैं, यद्यपि इनकी भूमिका कारण शरीरस्थ संस्कारों में निहित रहती है। मन की सङ्कल्प-विकल्प रहित साम्य स्थिति में भी जब विचारधाराएँ शान्त हो जाती हैं, बुद्धि अपना कार्य किया करती है जो चित्त के लय के साथ लीन-सी हो जाती है। वास्तव में उसकी अति सूक्ष्म क्रिया संप्रज्ञात समाधि में भी बनी रहती है, यद्यपि चित्त के लय के साथ मन-बुद्धि दोनों लीन-से हो जाते हैं। बार-बार समाधि के अभ्यास से बुद्धि में निहित संस्कार शनैः-शनैः शिथिल होने लगते हैं और दीर्घकाल के अभ्यास से ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय होने पर सब संस्कार नष्ट हो जाते हैं।

बुद्धियोग के अभ्यासी का मन शान्त-समाहित रहने लगता है और बुद्धि अति सूक्ष्म हो जाती है जिसको बुद्धि का अग्रभाग भी कहते हैं। ऐसी सूक्ष्म बुद्धि वाले महात्मा सूक्ष्मदर्शी कहलाते हैं। ऋतम्भरा में विपर्यय ज्ञान की गन्ध भी नहीं होती और उससे उदय होने वाले संस्कार अन्य पूर्व संस्कारों के प्रतिबन्धी होते हैं अर्थात् ऋतम्भरा के संस्कारों से तीनों प्रकार के अभिमानों के मिथ्या संस्कारों का विपर्यय ज्ञान नष्ट हो जाता है। तभी योगी अपने स्वरूप में स्थिति रखने के योग्य होता है।

दृश्यते त्वाग्रयया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।

—कठोपनिषद् ३, १२

—"सूक्ष्म दर्शियों को बुद्धि के सूक्ष्म अग्र भाग के द्वारा आत्मा के दर्शन होते हैं।"

मनोमय और विज्ञानमय दोनों कोशों में तादात्म्य-बुद्धि भोक्तृत्वाभिमान के ही अन्तर्गत है।

पाँचवाँ आनन्दमय कोश है जो आत्मा का अन्तिम आवरण है और उसका अभिमान भी भोक्तृत्वाभिमान का ही अङ्ग है। आनन्द तो आत्मा का ही स्वरूप है, परन्तु जैसे भौतिक देह की चेतना ज्ञानस्वरूप आत्मा की प्रतिचमक है, वैसे ही तीनों गुणों के परदों पर आनन्द की प्रतिभा को आनन्दमय कोश कहते हैं। अर्थात् आनन्दमय कोश चित्त के सात्विक, राजसिक और तामसिकं स्तरों से छनकर झलकने वाले आनन्द के विकार का आवरण है। सुषुप्ति में तमोगुण से आवृत आनन्द का अनुभव होता है, मैथुनादि इन्द्रियों के भोगों में रजोगुण से आवृत आनन्द का अनुभव होता है और उच्च विचारों तथा ध्यान, भक्ति, शान्ति में सत्त्वगुण से आवृत आनन्द का अनुभव होता है। यह आनन्द भी आत्मा का स्वरूप नहीं है वरन् चित्त की ही एक वृत्ति है जो भोक्तृत्वाभिमान का ही विषय है। श्रीमच्छङ्कराचार्य जी ने कहा है—

''नैवायमानन्दमयः परात्मा, सोपाधिकत्वात्प्रकृतेर्विकारात्।''

—विवेक चूड़ामणि २११

—''यह आनन्दमय कोश परमात्मा नहीं है क्योंकि यह सोपाधिक और प्रकृति का विकार है।''

महर्षि पतञ्जली ने सानन्द समाधि को संप्रज्ञात समाधि का अङ्ग माना है क्योंकि तब अहङ्कार की वृत्ति के साथ आनन्द की ही एक वृत्ति रहती है जो प्रज्ञा की ही एक अति सूक्ष्म वृत्ति है।

आत्मस्थिति में रुकावटें

आत्मस्थिति में चार रुकावटें हैं—लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद। सुषुप्ति में मन का लय हो जाने के कारण निद्रा को लय दोष कहते हैं। आत्मस्थिति में अधिक देर तक ठहरने के अभ्यास में निद्रा बड़ी भारी रुकावट है। चित्त में थोड़ी-सी एकाग्रता आने पर झट नींद दबा लेती है, इसलिए चित्त ऊँचा नहीं उठने पाता, क्योंकि उसका लय तमोगुण में हो जाता है। चित्त में विचाररूपी सङ्कल्प-विकल्पों की तरंगें विक्षेप कहलाती हैं

और लोभ, मोह, चिन्ता, शोकादि कषाय कहलाते हैं। इन दोनों में भी रजोगुण से चञ्चल चित्त की आत्मस्थिति नहीं होने पाती।

सत्वप्रधान चित्त के शान्त और समाहित रहने पर जिस अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है, उसको रसास्वाद कहते हैं। यह आनन्द भी आत्मस्थिति के लिए विघ्न है। यद्यपि निद्रा और आलस्य में भी आनन्द आता है, काम-लोभादि विकारों में भी एक प्रकार के आनन्द या सुख का अनुभव होता है और मनन, ध्यान, शान्ति आदि में भी एक आनन्द का अनुभव होता है, पर इन तीनों के स्तर उत्तरोत्तर ऊँचे और शुद्धतर होते जाते हैं। ये सभी आत्मा के आनन्द की छाया अथवा आभास मात्र हैं, इसलिए इनको आत्मानुभव के लिए बाधक कहा जाता है।

पहले दिए हुए विवेक चूड़ामणि के श्लोक १४६,१४७,१४८ में जो संसार-वृक्ष का रूपक दिखाया गया है, उसमें तम को वृक्ष का बीज, देहात्मधी को अंकुर, राग को पल्लव, कर्मों को जल, देह को वृक्ष का स्कन्ध, प्राण-अपानादि प्राण की क्रियाओं को शाखा, इन्द्रियों को टहनियों का अग्रभाग, विषयों को पुष्प, दुःख-सुखमय भोगों को फल और जीव को भोगने वाला पक्षी दिखाया गया है। इस सब बन्धन का कारण अज्ञान है।

योगदर्शन ने इनको क्लेश, कर्म, विपाक और आशय—इन चार श्रेणियों में रखा है तम अर्थात् अविद्या या अज्ञान प्रथम क्लेश है जो चार प्रकार का विपर्यय ज्ञान है। उलटे ज्ञान को विपर्यय ज्ञान कहते हैं, जैसे रस्सी में सर्प की भ्रान्ति होना। अनात्म देहादि भौतिक तत्त्वों के सङ्घात में आत्माभिमान होना, दुःखों में सुख का, अपवित्र में पवित्रता का और अनित्य में नित्यता का मिथ्या ज्ञान होना—यह चार प्रकार का अविद्यारूपी तम ही संसार-वृक्ष का बीज है। श्रुति का भी वचन है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

—ईशोपनिषद

उक्त अविद्या रूपी बीज से अभिमान रूपी अहंभाव का अंकुर फूटता है, यह दूसरा क्लेश है। अहम् से मम अर्थात् मैं से ममता रूपी राग के पल्लव निकलते हैं। राग का सहोदर द्वेष भी साथ ही जन्म लेता है। सुख-दुःखों के संस्कारों को ही क्रम से राग और द्वेष कहते हैं।

सुखानुशयीरागः । दुःखानुशयी द्वेषः।।

—योग दर्शन

ये दोनों तीसरे और चौथे क्लेश कहलाते हैं। देहासक्ति को अभिनिवेश कहते हैं जो पाँचवाँ क्लेश है। ये क्लेश बाल्यावस्था में प्रसुप्त, बड़े होने पर विषयों की अनुपस्थिति में विच्छिन्न और उनके साथ सङ्ग होने पर उदार हो जाया करते हैं। परन्तु साधन, तप, स्वाध्याय और ईश्वर की शरण में रहने से पाँचों क्लेश तनु अर्थात् पतले एवं निर्बल होकर ध्यान के अभ्यास से क्षीण किये जा सकते हैं।

ध्यान हेयास्तद्वृत्तयः।

—योगदर्शन

क्लेशों से कर्म करने की प्रवृत्ति होती है, कर्मों के फल सुख-दुःख रूपी भोग मिलते हैं और भोग अपने-अपने संस्कार अन्तःकरण पर छोड़ जाते हैं जिनसे क्लेशों को बल मिलता है। इस प्रकार यह संसार-चक्र अनादिकाल से चला आ रहा है।

मनुष्य की वृत्तियाँ जब उक्त क्लेशों से युक्त रहती हैं, तब वे बन्धन का कारण होती हैं, क्लेशों से रहित वृत्तियों में बन्धन की शक्ति नहीं होती क्योंकि जीवनमुक्त दशा में भी चित्त की वृत्तियाँ तो रहती ही हैं। सारा जगद्व्यापार वृत्तियों का ही खेल है। वृत्तियों का सर्वथा निरोध हो जाने पर प्रपञ्च का भी लय हो जाता है और इनका व्युत्थान होने के साथ ही सारे प्रपञ्च का भी पूर्ववत् उदय हो उठता है। जीवनमुक्त दशा में क्लेशों से रहित वृत्तियाँ बन्धन का कारण नहीं होतीं। योगदर्शन में कहा है—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाश्च। १, ४

वृत्तियों को पाँच कोटि में रखा गया है—

प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृतयः। १, ६

अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम रूपी प्रमाणत्रय, विपर्यय ज्ञान, विकल्प ज्ञान, निद्रा और स्मृति। पाँच क्लेशों का वर्णन योग दर्शन में इस प्रकार है :—

अविद्याऽस्मिताराग द्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः । २, ३

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—पाँच क्लेश हैं।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म विषयों में क्रम से नित्य, शुचि, सुख और आत्मबुद्धि होना अविद्या है।

शरीर और उसके विषय अनित्य हैं — उनको नित्य, सदा रहने वाले समझना, विषयों के भोग जो अपवित्र और पापों से युक्त होते हैं — उनको पवित्र समझना, वे दुःखरूप हैं — उनको सुख का कारण समझना और भौतिक देह-इन्द्रियाँ-मन जो अनात्म प्रकृति के अङ्ग हैं — उनमें आत्माध्यास होना अविद्या हे।

दृग्दर्शन शक्त्योरेकात्मतेवास्मिता । —२, ६

दृक् शक्ति (आत्मा की चेतन शक्ति) और दर्शनशक्ति (इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि) दोनों की एकात्मता-सी होने पर अस्मिता —'मैं हूँ' अर्थात् अहंबुद्धि उत्पन्न होती है। शुद्ध आत्मा में 'मैं' पन नहीं होता और अचेतन प्रकृति के अङ्गों में भी 'मैं'—पन नहीं हो सकता। चेतन आत्मा अचेतन नहीं बन सकता और अचेतन प्रकृति चेतन नहीं हो सकती और न दोनों की एकात्मता ही सम्भव है, परन्तु इन दोनों विपरीत धर्म वाले चेतन पुरुष और अचेतन बुद्धि आदि में एकात्मता-सी दीख पड़ती है जिससे अचेतन बुद्धि आदि में अहमूपन उत्पन्न हो जाता है। इसे अस्मिता या अहङ्कार कहते हैं। आत्मा यद्यपि शुद्ध स्वरूप है, परन्तु बुद्धि आदि की उपाधियुक्त दीखता है।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः । —२, २०

—''द्रष्टा (चेतनात्मा) दृशि अर्थात् देखने की शक्ति मात्र चितिशक्तिस्वरूप प्रज्ञानात्मा (absolute consciousness) शुद्ध साक्षी है, परन्तु बुद्धि आदि प्रत्ययों की उपाधियों से युक्त दीख पड़ता है।''

सुखानुशयी रागः। दुःखानुशयी द्वेषः।। —२,७-८

—''सुख का अनुभव होने पर जो संस्कार रह जाता है, उसको राग और दुःख का अनुभव होने पर जो संस्कार रहता है, उसे द्वेष कहते हैं।''

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः । —२, ९

—''जो स्वाभाविक रूप में विद्वानों में भी वैसी ही आरूढ़ देखी जाती है जैसी साधारण प्राणियों में,—इस जीवन-लालसा को अभिनिवेश कहते हैं।''

यदि जीवन-लालसा को एक प्रकार कर राग माना जाय तो इसके विपरीत जीवन को नष्ट करने वाले विषयों से जो द्वेष होता है, उसको भय कहते हैं। इसलिए जीवन से प्रेम और भय दोनों अभिनिवेश के अन्तर्गत हैं। सांख्य दर्शन में अविद्या को तम, अस्मिता को मोह, राग को महा मोह, द्वेष को तामिस्र और अभिनिवेश को अन्धतामिस्र कहा है।

जीवनमुक्ति की दशा में आत्मज्ञान होने पर पाँचों क्लेशों का नाश हो जाता है, केवल उपरोक्त पाँचों वृत्तियाँ जगत् का व्यापार बनाये रखती हैं, पर उनमें बन्धन के हेतु क्लेश नहीं रहते। क्लेश ही शुभाशुभ कर्मों की जड़ हैं। क्लोशों से कर्म, कर्मों से सुख-दुःखमय भोग, भोगों से वासना के संस्कार और संस्कारों से जन्म, मरण, आयु और भोगों का चक्र चलता रहता है। इसलिए समझना चाहिए कि जब तक क्लेश क्षीण नहीं होते, तब तक अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान की बातें करना कोरा वाचक ज्ञान है।

जन्म-मरण स्थूल देह का ही होता है, सूक्ष्म शरीर एक देह से दूसरे देह में आवागमन किया करता है। पाँच तन्मात्राएँ पाँच प्राण, दस इन्द्रियाँ, मन बुद्धि, चित्त और अहङ्कार,—इन सबके सङ्घात को सूक्ष्म शरीर कहते हैं। सूक्ष्म शरीर का आधार कारण शरीर है जो अविद्यात्मिका आदि शक्ति का रूप है। इसको अव्यक्त भी कहते हैं। परन्तु इसे सांख्य का प्रधान अव्यक्त नहीं समझना चाहिए क्योंकि वेदान्त उसको ईश्वराधीन शक्ति मानता है। वेदान्त में ईश्वर से स्वतन्त्र किसी मूल प्रकृति को स्थान नहीं है। वह ईश्वर की शक्ति है और शक्ति कभी शक्तिमान् से भिन्न एवं स्वतन्त्र नहीं हो सकती।

कारण शरीर को संस्कारों एवं वासनाओं का एक कोश समझना चाहिए जिसमें सब शुभाशुभ संस्कारों का सञ्चय रहता है जो वासनाओं का रूप धारण करके भावी जन्म का कारण बन जाते हैं। स्मृति जागने के पूर्व सब अनुभवों के संस्कार संस्काराशय में जमा रहते हैं। इस कर्माशय की जड़ (मूल) क्लेशों में है और यही वर्तमान एवं भावी जन्मों का कारण होता है।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीयः । —२, १२

अविद्या से देहात्मबुद्धि उत्पन्न होती है। देहात्मबुद्धि के कारण ही सुख देने वाले विषयों में राग, दुःख देने वाले विषयों में द्वेष, जीवन-लालसा

और देह को हानि पहुँचाने वाले कारणों से भय उत्पन्न होता है। राग, द्वेष और भय से प्रेरित होकर मनुष्य अनेक प्रकार के कर्म करता और उनके सुख-दुःख देने वाले फल भोगता है। सुख-दुःख के भोगों के संस्कार चित्त पर अङ्कित होते रहते हैं। वे जब अंकुरित होते हैं तब वासनाओं का रूप धारण कर लेते हैं। वासनाएँ क्लेशों पर फिर नवीन पुट चढ़ाकर उनको अधिक मजबूत बनाती रहती हैं।

जब तक संस्कार अंकुरित होने की शक्ति से रहित अर्थात् कच्चे रहते हैं, वे संस्काराशय में जमा होते रहते हैं उनमें भावी जन्म बनाने की शक्ति बीजरूप में ही रहती है। वे भावी जन्म का कारण नहीं बनते, परन्तु उनको बल देने वाले अनुकूल कर्म उन्हें परिपक्व बनाने में सहायक होते हैं और जब वे पक कर अंकुरित होने के योग्य हो जाते हैं, तब कारण शरीर का अङ्ग बन जाते हैं। इन्हीं को प्रारब्ध कर्म कहते हैं।

प्रारब्ध शब्द का अर्थ 'आरम्भ करने वाला' है अर्थात् प्रारब्ध कर्मों के संस्कार वे होते हैं जो मृत्यु के समय अंकुरित होकर वासना का रूप धारण कर लेते हैं और भावी जन्म को आरम्भ करने की प्रेरणा देते हैं। जो कर्म अभी अंकुरित नहीं हो सके हैं, वे बीज रूप से वैसे ही सञ्चित रहते हैं और अनुकूल समय पा कर अंकुरित हो सकते हैं। इनका कभी नाश नहीं होता, परन्तु—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।।

—गीता ४, ३७

स्पष्ट है कि वासना ही बन्धन का कारण है और जब तक वासना का क्षय नहीं होता, तब तक बन्धन से मुक्ति नहीं होती। वासनाओं की अभिव्यक्ति अच्छे, बुरे और मिश्रित कर्मों के फलों के अनुसार हुआ करती है, परन्तु योगियों को नहीं होती। वासनाएँ कभी तो प्रसुप्त (dormant) रहती हैं—जैसे बाल्यावस्था में, कभी विच्छिन्न (cut off) रहती हैं—जैसे अपने विषयों की अनुपस्थिति के समय उस समय के लिए दबी रहती हैं और कभी उदार (manifested) हो जाती हैं—जैसे अपने विषयों की उपस्थिति होने पर उभर आती हैं। परन्तु आत्मज्ञान के उदय होने पर साधक की वासनाएँ तनु (weakened) अर्थात् पतली होने लगती हैं।

जब तक वासनाएँ, तनु अथवा क्षीण नहीं होतीं, उनमें वृक्ष बनने की शक्ति रहती है और जब आत्मदर्शन द्वारा उन्हें तनु कर दिया जाता है तो उनकी अंकुरित होने की शक्ति कमजोर होने लगती है और अन्त में नष्ट हो जाती है, जैसा कि श्रीमच्छङ्कराचार्य ने कहा है—

ज्ञाते वस्तुन्यपि बलवती वासनाऽनादिरेषा,
कर्ता भोक्ताप्यहमिति दृढायास्य संसार हेतुः।
प्रत्यग्दृष्ट्यात्मनि निवसता सापनेया प्रयत्नात्,
मुक्तिं प्राहुस्तदिह मुनयो वासनातानवं यत्।।

—विवेकचूड़ामणि २६८

—"आत्मतत्व के जानने पर भी यह अनादि बलवती वासना—'मैं करता हूँ, मैं भोक्ता हूँ'—इस कर्तृत्व-भोक्तृत्वा-भिमान रूपी संसार-बन्धन के कारणों को दृढ़ बनाये रखती है। इस वासना को प्रत्यक्ष आत्मदृष्टि द्वारा आत्मा में स्थिति रखकर प्रयत्नपूर्वक नष्ट करना चाहिए क्योंकि वासनाओं के तनु करने को ही मुनियों ने मुक्ति कहा है।"

स्वात्मन्येव संदा स्थित्या मनोनश्यति योगिनः।
वासनानां क्षयश्चातः स्वाध्यासापनय कुरु।।

—"सदा अपने आत्मा में ही स्थिति रखने से योगियों के मन का नाश होता है और उससे वासनाओं का क्षय होता है। इसलिए आत्मस्थिति द्वारा अपने अध्यास को नष्ट करो।"

अध्यास के दूर होने पर अपरोक्ष ज्ञान होगा। अपरोक्ष ज्ञान होने के लक्षणों का विकास होना ही अपरोक्ष ज्ञान है—'मैं ब्रह्म हूँ'—यह समझ अपरोक्ष ज्ञान नहीं है। यदि 'मैं ब्रह्म हूँ' इस विचार के साथ अपरोक्ष ज्ञान के लक्षणों का चित्त पर विकास नहीं हो रहा है तो समझना चाहिए कि यह केवल एक ख्याल अथवा विचार की दृढ़ता मात्र है।

कुछ आचार्यों ने घृणा, लज्जा, भय, शोक, जुगुप्सा, शील, कुल और जाति का अभिमान,—ये आठ पाश माने हैं जिनसे बँधा हुआ जीव पशु तुल्य है और इनसे मुक्त शिव है, परन्तु वास्तव में राग ही एक मुख्य पाश है जिसके कटने से सब पाश कट जाते हैं।

अपरोक्ष ज्ञान के लक्षण

अपरोक्ष ज्ञान का उदय होने पर काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ,

मान, मद, मात्सर्य, अहङ्कार, चिन्ता, शोक, आशा, तृष्णा, वासना, ईर्ष्या, द्वेष, लज्जा, घृणा, भय तथा विषयासक्ति के वेग तनु अर्थात् शिथिल होने लगते हैं और धीरे-धीरे चित्त उनसे मुक्त रहने लगता है। यदि किसी संसर्ग से किसी भाव का वेग आ भी जाए तो उसकी तीव्रता पूर्ववत् नहीं होती। उसका वेग चित्त को अधिक क्षुब्ध न करके क्षणिक रहकर शान्त हो जाता है और चित्त तुरन्त अपनी स्वस्थ समाहित अवस्था में आ जाता है। चित्त में एक प्रकार के अपूर्व सुख का उदय होता है जिससे सदा एक प्रकार की मस्ती और नशा-सा बना रहने लगता है। चित्त विषयों से उपरत हो जाता है। शान्ति, प्राणी मात्र से प्रेम, दया, क्षमा, त्याग, उदारता, नम्रता, चित्त की प्रसन्नता, धैर्य, तेज, निर्भीकता और सब प्राणियों पर समदृष्टि इत्यादि सात्विक भाव स्वभावसिद्ध चित्त में विकसित होने लगते हैं।

वासनाओं का क्षय होकर सङ्कल्प-विकल्पों के त्यागपूर्वक मन में एकाग्रता और आत्मस्थिति रहने लगती है। वह दुःखों से घबराता नहीं, किसी भय से डरता नहीं और सुखों की इच्छा भी नहीं करता। वीतराग होकर प्रारब्ध के भले-बुरे भोगों को निर्लिप्त रहकर भोगता है। उसको आत्म-रमण में सन्तोष और तृप्ति मिलती है। शान्ति और आनन्द का सागर उसके हृदय में उमड़ने लगता है। ऐसे लक्षण बनावटी नहीं बनाए जा सकते, उनके विकास का प्रभाव स्वतः स्वाभाविक आत्मा की किरणों के सदृश उमड़ने लगता है। वह जीवन-मुक्ति की दशा है। तब मन अगाध शान्ति में गोते लगाने लगता है, वृत्ति अन्तरात्मा की ओर खिंचने लगती है और वह योगी कबीर के शब्दों में गाने लगता है :—

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले ?
सुरत कलारी भई मतवारी, पी गई मदवा बिन तोले।।

आत्मस्थिति

अन्तःकरण को एक सरोवर के सदृश समझा जाए तो उस की वृत्तियाँ सरोवर में उठने वाली लहरों अथवा तरङ्गों के सदृश उसको क्षुब्ध रखा करती हैं। जब हम कुछ सोचा करते हैं, तब हमारे चित्ताकाश में विचारों की लहरों का आन्दोलन होने लगता है अथवा जब हमारा मन बाह्येन्द्रियों के सहारे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के विषयों का ज्ञान

ग्रहण करता है, तब उनकी वृत्तियों की लहरें चित्त में उदय होने लगती हैं। बुद्धि अथवा तर्क-युक्तियों की धाराएँ भी एक प्रकार की लहरें ही हैं। इसी प्रकार अहङ्कार भी देहाभिमान की एक सूक्ष्म तरङ्ग ही है जो कभी-कभी दम्भ-दर्पादि का स्थूल रूप धारण कर लेती है। काम-क्रोधादि के भाव इस सरोवर में उठने वाले भयङ्कर तूफान हैं। ये तरंगें कभी स्पन्द रूप में बहुत सूक्ष्म रहती हैं, कभी उनका प्रादुर्भाव अन्तःकरण की ऊपरी सतह तक ही होता है और कभी सरोवर के नीचे की तली तक को वे क्षुब्ध कर देती हैं।

ये तरंगें कभी तमोगुणी दीर्घसूत्रता से दब-सी जाती हैं, कभी रजोगुण की आँधी से तूफान बनकर अन्तःकरण को क्षुब्ध कर देती हैं और कभी सत्त्वगुण के शान्त वातावरण में हिलोरे लिया करती हैं। परन्तु जब सब तरंगे शान्त होती हैं, तब अन्तःकरण में आत्मसुख का अनुभव होता है। शान्ति और आनन्दानुभव आत्मा के प्रकाश के द्योतक हैं। वाह्यकरण के सदृश अन्तःकरण भी एक इन्द्रिय ही है जिस से ज्ञान की उपलब्धि होती है, चाहे वह ज्ञान वाह्य-जगत् का हो, चाहे अन्तर्जगत् का अथवा आत्मज्ञान ही हो।

हर ज्ञान बुद्धि की ही क्रिया है, परन्तु बुद्धि भी बिना आत्मा के प्रकाश के जड़वत् है। अर्थात् सब संज्ञानात्मिका क्रियाएँ आत्मा की चेतन शक्ति के आधार पर चेतनवत् कार्य करती हैं। आत्मा की शक्ति प्रकाश के सदृश अन्तःकरण की वृत्तियों को प्रकाशित करती है, परन्तु जब तक बाह्य विषयों की वृत्तियों का आन्दोलन होता रहता है, तब तक उससे आत्मज्ञान दबा रहता है, यद्यपि सब वृत्तियों में आत्मा का ही ज्ञान कार्य करता है। जब सब सङ्कल्प-विकल्प शान्त हो जाते हैं, चित्त में कोई भाव नहीं उठता, मन के विचार अस्त हो जाते हैं, अन्तःकरण आत्मज्ञान से भरा हुआ आत्मानन्द के भार से परिपूर्ण रहने लगता है, चित्तरूपी मानसरोवर एक रस, सम और शान्त होकर उसकी वृत्ति आत्मानुसन्धान में लगने लगती है, तब दीर्घकाल के अभ्यास से यही आत्मस्थिति की अवस्था परिपक्व होकर सहजावस्था बन जाती है।

✧ ✧ ✧

दशम विकास

साधन

श्रद्धाभक्ति ध्यान योगान्मुमुक्षो-

मुक्तेर्हेतून् वक्ति साक्षात् श्रुतेर्गोः।

यो वा एतेष्वेव तिष्ठत्यमुष्य,

मोक्षोऽविद्या कल्पिताद्देहवन्धात्।।

—विवेकचूड़ामणि ४८

साधनचतुष्टय-सम्पन्न ऋग्वेदाचार्य परमऋषि आश्वलायन परमेष्ठि पितामह ब्रह्मा जी के पास समित्पाणि होकर गये और प्रार्थना की—'अधीहि भगवन् ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां सदा सद्भिः सेव्यमानां निगूढाम्'—अर्थात् सतपुरुषों से सदा सेवित वह गुप्त श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या मुझे सिखाइये जिसको जानने वाला मनुष्य शीघ्र सब पापों से मुक्त होकर परात्पर पुरुष को पा लेता है।

ब्रह्माजी ने उत्तर दिया—'श्रद्धा-भक्ति-ध्यान योगादवेहि'—अर्थात् उस ब्रह्मविद्या को श्रद्धा, भक्ति और ध्यान—तीनों के योग से जानो (कैवल्योपनिषद्)। श्रीमच्छङ्कर-भगवत्पाद ने उपरोक्त श्लोक में इस श्रुतिवचन के आधार पर श्रद्धा, भक्ति और ध्यान को मुमुक्षु की मुक्ति का हेतु बताया है। जो मनुष्य इनमें अपनी स्थिति रखता है, वह अविद्या-कल्पित देह के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

जो लोग श्रद्धा, भक्ति, ध्यान के युगपद साधनों द्वारा षट्सम्पत्ति युक्त होते हैं, वे ही महावाक्यों के श्रवण के अधिकारी बनते हैं। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'—इस सूत्र पर भाष्यकार भगवत्पाद शङ्कराचार्य लिखते हैं :—'किमपि वक्तव्यं यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यते' इति उच्यते, नित्यानित्य वस्तु विवेकः, इहामुत्रार्थ भोगविरागः शमदमादि साधनसम्पत् मुमुक्षुत्वं च तस्माद्यथोक्तं साधनसम्पत्यनन्तरं

'ब्रह्म जिज्ञासा कर्तव्या'—अर्थात् नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक, इहलोक और परलोक के भोगों से वैराग्य, शमदमादि साधन-सम्पत्ति और मोक्ष की इच्छा—इस यथोक्त साधन-सम्पत्ति के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए।

अब यह जानना आवश्यक है कि इस साधन-सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए क्या उपाय हैं ? साधन-सम्पत्ति के प्रथम विवेक-वैराग्य का जोड़ा है, फिर षट्सम्पत्ति और तत्पश्चात् मुमुक्षुत्व है। मोक्ष की इच्छा उदय होने पर ब्रह्मजिज्ञासा जागती है जिसके लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन साधन बताये जाते हैं।

षट्सम्पत्ति का प्रथम अङ्ग शम है और अन्तिम समाधान है। मनोनिग्रह को शम कहते हैं और मन की समाहित अवस्था को समाधान कहते हैं। अर्थात् मनोनिरोध का प्रथम रूप शम कहलाता है और अन्तिम परिपक्व सम अवस्था को समाधान कहा जाता है। दम अर्थात् इन्द्रियों का निग्रह, उपरति विषयों से चित्त का हटना, तितिक्षा और श्रद्धा—चारों शम से आरम्भ होने वाली और समाधान पर समाप्त होने वाली यात्रा के सहायक अङ्ग हैं, परन्तु शम की प्राप्ति के लिए प्रथम विवेक-वैराग्य अनिवार्य साधन हैं।

अभ्यासेन कौन्तेय वैराग्येन च गृह्यते । —गीता

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।। —योगदर्शन

यहाँ अभ्यास से विवेक का ही अभिप्राय है, जैसा कि उपरोक्त सूत्र पर भाष्यकार व्यास भगवान् कहते हैं कि चित्त रूपी नदी दोनों ओर बहने वाली है, वह कल्याण के लिए भी बहती है और पाप के लिए भी बहती है। जो कैवल्य प्राग्भारा है और विवेक-विषय से भरी है, वह कल्याण के लिए बहती है और जो संसार-प्राग्भारा है और अविवेक-विषय से भरी है, वह पाप की ओर बहती है वहाँ वैराग्य से विषयों के स्रोत काटे जाते हैं और विवेक-दर्शन के अभ्यास से विवेक के स्रोतों का उद्घाटन किया जाता है। इस प्रकार चित्त की वृत्तियों का निरोध दोनों के अधीन रहता है। चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम ही योग है—'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' (योगदर्शन)। योगी बनने का प्रारम्भिक साधन निष्काम कर्मयोग बताया गया है। श्री भगवान् कहते हैं :—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारण मुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।। —गीता

अर्थात् जो मनुष्य योगारूढ़ होना चाहता है, उस मुनि के लिए कर्मयोग बताया गया है और जब वही मनुष्य योगारूढ़ हो जाता है, तब उसका साधन शम कहा जाता है। जब तक मन की चञ्चलता नष्ट नहीं होती तब तक फलेच्छा

त्यागकर भगवत्-अर्पण-बुद्धि से कर्म करना चाहिए, क्योंकि जिसका मन दुःखों में घबराता नहीं, सुखों की स्पृहा नहीं रखता, वही स्थिरबुद्धि मनुष्य योगी होता है। चञ्चलता कम होने पर मन में जिस शम रूपी एकाग्रता का उदय होता है, उसी को अखण्ड रखने का अभ्यास करना उसके लिए जरूरी है। इसलिए योगारूढ़ का साधन शम कहा गया है जो परिपक्व दशा में समाधान कहलाता है।

ईश्वरार्पण बुद्धि से, फलों की इच्छा छोड़कर, कर्तव्य-परायण होकर, कर्मयोग का अभ्यास ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है। प्रणिधान का अर्थ व्यास भगवान् योगदर्शन के भाष्य में भक्ति विशेष कहते हैं। अथवा परमगुरु ईश्वर को समर्पणपूर्वक सब कर्मों के फलों के संन्यास को भी ईश्वर-प्रणिधान कहते हैं— (देखें सूत्र २, १ का भाष्य)।

भक्ति का ध्यानयोग से इतना गहरा सम्बन्ध है कि योगदर्शन में ईश्वर-प्रणिधानस्वरूपा भक्ति का साधन तीन स्थान पर मिलता है। सर्वप्रथम ईश्वर-प्रणिधान का फल मनोनिरोध मात्र कहा गया है (सूत्र १, २३)। दूसरे स्थान पर सूत्र २ ,१ में 'तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रिया योगः'—तप और स्वाध्याय सहित ईश्वर-प्रणिधान का फल 'समाधि भावनार्थः क्लेशतनू करणार्थश्च' (२, २) समाधि के लिए सहायक और क्लेशों को तनु करने वाला कहा गया है। तीसरे स्थान पर 'शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः' (२, ३२) में ईश्वर-प्रणिधान का फल समाधि की सिद्धि कहा गया है—'समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्' (योगदर्शन २, ४५)। अर्थात् एक ईश्वर की भक्ति से ही मनोनिरोध भी होता है, अविद्या का नाश होता है, समाधि की प्राप्ति होती है और उसके नाम का जप करने से सब विघ्नों का अभाव होकर ज्ञान की प्राप्ति तक अविरोध गति होती है। गीता में श्री भगवान् का भी यही आश्वासन है :—

कथयन्तश्च माम् नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।
ददामि बुद्धि योगं तं येन मामुपयान्ति ते।।
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्वतः।
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।

चित्त में सत्वगुण की वृद्धि होने पर आत्मा का प्रकाश चमकने लगता है और अध्यात्म-पथ पर आरूढ़ होने की प्रबल इच्छा तथा शास्त्रों एवं गुरुजनों में श्रद्धा जाग उठती है। श्रद्धा आत्मोन्नति के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है। व्यास भगवान् योगदर्शन १, २० के भाष्य में कहते हैं—'सा (श्रद्धा) हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति।' बिना श्रद्धा के देव का अनुग्रह और गुरुजनों का आशीर्वाद भी

फलीभूत नहीं होता और न कोई साधन सफल होता है। श्रद्धा वास्तव में भक्ति का पूर्व रूप है और अष्टाङ्ग योग का सातवाँ अङ्ग ध्यान भक्ति का उत्तर रूप एवं उपासना का सर्वोच्च स्वरूप है। नारदीय भक्ति सूत्र की परम प्रेमरूपा भक्ति का स्वरूप अनन्य ध्यान ही है। कहा है :—

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवत्यात्मारामो भवति

—नारद भक्ति सूत्र ६

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।

—गीता

ध्यान को ही अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं, बुद्धि की समझ के परोक्ष ज्ञान को ज्ञान नहीं कहते। इसी अभिप्राय से कहा गया है कि 'ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।' वह ज्ञान शम, दमादि से रहित मनुष्यों को प्रकट नहीं हो सकता। बिना शम-दमादि के महावाक्यों का निदिध्यासन तो दुःसाध्य ही नहीं, असाध्य है। ऐसे मनुष्यों को प्रथम तो ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान के श्रवण करने में श्रद्धा ही नहीं होती। यदि पूर्वार्जित संस्कारों अथवा महात्माओं के सत्सङ्ग से श्रद्धा होती भी है तो मल-विक्षेपरूपी कषाययुक्त चित्त पर उस ज्ञान का अर्थ प्रकाशित नहीं होता।

बहुधा मनुष्यों का चित्त तमोगुण से मलीन रहता है और उनको अपने गद्दी-तकिया ही प्रिय लगते हैं। यद्यपि वेदान्त-वाक्यों के श्रवण में उन्हें कुछ आनन्द आता है, तो भी उनके चित्त की तामसिक मूढ़ता उनको आत्मचिन्तन के लिए प्रवृत्त नहीं होने देती। ऐसे मनुष्यों को चाहिए कि किसी कार्य-क्षेत्र में लोक-सेवा का कार्य करें और निष्काम लोकहित के कार्यों में आने वाले अनिवार्य कष्टों का स्वागत करके उन्हें सहन करने का अभ्यास बढ़ावें जिससे उनमें रजोगुण मिश्रित सात्विक प्रवृत्ति और सत्वगुण की सहिष्णुता का विकास हो। लोक-सेवा भी 'वासुदेवः सर्वमिदम्' अथवा 'सर्व विष्णुमयं जगत्' के भाव से की जायेगी तो कर्मयोग के साधन का सर्वोत्तम अनुष्ठान होने लगेगा। यह साधन तो ज्ञानियों तक को भी लाभप्रद होता है। महान पुरुष 'सर्वभूतहिते रताः' रहकर सदा लोकहित के कार्यों में दत्तचित्त रहते हैं। लोकहित के कार्यों से त्याग की भावना बढ़ती है और आत्मसन्तोष एवं शान्ति का उदय होता है।

काम, क्रोध, लोभादि की वृत्तियाँ कषाय कहलाती हैं। इन सभी के मूल कारण राग, द्वेष, अभिनिवेश प्रभृति क्लेश हैं—यह कहा जा चुका है। इन सब वृत्तियों में राग की वृत्ति सर्वोपरि है, इसीलिए राग को ही पाश कहते हैं। विषयासक्ति राग का सुदृढ़ रूप है। विषयों के भोगो की तृष्णा न रहना वैराग्य कहलाता है—

दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।

—योगदर्शन १, १५

अर्थात् देखे हुए, अनुभव किये हुए और सुने हुए जिनका अनुभव नहीं हो सका है, तीनों प्रकार के विषयों की तृष्णा से मुक्त हो जाने को वशीकार संज्ञक वैराग्य कहते हैं।

वास्तव में वैराग्य की पूरी मञ्जिल को चार श्रेणियों में बाँटा जाता है। प्रथम श्रेणी के लोग वे हैं जो कषायों को पकाने के यत्न में लगे हुए हैं। उनका वैराग्य यतमान वैराग्य कहलाता है। दूसरी श्रेणी में कुछ कषाय पक जाते हैं, कुछ पकने बाकी रहते हैं। वह व्यतिरेक कहलाता है, क्योंकि पक्व कषायों को अर्धपक्वों से पृथक् करना पड़ता है। इसके पश्चात् ऐसी अवस्था आती है कि कषाय पक जाने पर भी यद्यपि इन्द्रियों की भोगों के लिए प्रवृत्ति होना तो रुक जाती है, परन्तु मन में एक उत्सुकता रहती है। इसको एकेन्द्रिय संज्ञक वैराग्य कहते हैं। जब यह उत्सुकता भी नष्ट होकर विषयों से उपेक्षा-बुद्धि उत्पन्न होती है, तब असली वैराग्य समझना चाहिए जिसे वशीकार वैराग्य कहते हैं। यही वैराग्य आत्म-साक्षात्कार होने पर परम वैराग्य कहलाता है।

लोभ और मोह दोनों ही वृत्तियाँ भी आसक्ति के ही रूपान्तर हैं। जो लोग लोभी होते हैं और स्वार्थ के संकुचित घेरे में पड़े हुए हैं, उन्हें आध्यात्मिकता से बहुत दूर समझा जाना चाहिए। ईसा ने अपने उपदेशों में एक बार कहा था कि सूई के छिद्र में से ऊँट का निकलना सम्भव है, परन्तु स्वर्ग के द्वार में धनाढ्यों का प्रवेश कठिन है। यहाँ पर धनाढ्यों की धन-लोलुपता और लोभ की वृत्ति की ओर लक्ष्य कराया गया है। जो धनवान दानी, उदार और त्यागी होते हैं, उनकी वृत्ति सात्विक हे जाती है।

मल और विक्षेपों को हटाने के लिए निष्काम कर्मयोग, तप, योग-साधन और भक्ति-उपासना ही सहायक होते हैं। वैराग्य, तप और स्वाध्याय सहित ईश्वर-प्रणिधान से चित्त की चञ्चलता शान्त होती है। पुण्य कर्मों के अनुष्ठान से मनुष्य पापों से बचता है और पुण्यों को भी फलों की कामना छोड़कर, कर्तव्य समझकर अथवा भगवत्-अर्पण-बुद्धि रख कर करने से चित्त का मल दूर होता है। तप, स्वाध्याययुक्त ईश्वर-शरणागति से विक्षेपों का नाश होता है।

तप किसे कहते हैं,—यह भी जानना अत्यावश्यक है। सामान्य जनता में कायकष्ट और शरीर-पीड़न को ही तप समझने की धारणा बनी हुई है। बहुत से लोग उपवासों को, धूप में सिकने अथवा काँटों से शरीर छेदने को

ही तप मानते हैं। ग्रीष्म ऋतु में अग्नि तापने और शरद ऋतु में नदियों में खड़े होकर भजन करने को ऊँचा तप समझा जाता है। कृच्छ्र, चान्द्रायणादि व्रतों को भी तप कहते हैं। परन्तु ऐसे उग्र तपों को प्रायश्चित्त-तप समझना चाहिए। इनसे कुछ लाभ तो अवश्य होता है, क्योंकि दुःखों को सहन करने की शक्ति बढ़ती है, परन्तु पूर्वकालीन ऋषियों ने इनको अधिक उपयोगी नहीं माना है। श्री भगवान् ने तो ऐसे तपों की निन्दा की है:—

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।

मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।। —गीता

यम, नियम, प्राणायाम आदि अष्टाङ्ग योग का अनुष्ठान ही सच्चा तप है। कहा है—'न प्राणायामात् परं तपः।' महाभारत में मन और इन्द्रियों की एकाग्रता को सब से ऊँचा तप माना गया है :—

मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः।

बौद्धायन धर्मसूत्रों में अहिंसा, अस्तेयादि को तप कहा गया है :—

अहिंसा सत्यमस्तेयं सवनेषूदकोपस्पर्शनम् गुरु सुश्रूषा ब्रह्मचर्यमधःशयनमेकवस्त्रताऽनाशकः इति तपांसि।

—३, १०, १४

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, यज्ञों में जल का स्पर्श, गुरु-सुश्रूषा, ब्रह्मचर्य, पृथिवी पर सोना, एक वस्त्र में रहना और इच्छा (आशा) का त्याग ये सभी तप हैं ।

गीता में भी भगवान् ने तपों का वर्णन किया है (देखें अध्याय १७, श्लोक १४, १५, १६)। देव, द्विज, गुरु, प्राज्ञ (विद्वान्) जनों का पूजन, सत्कार, शौच (सफाई), नम्रता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा शरीर के तप कहलाते हैं।

उद्वेगरहित, सत्य, प्रिय और हितकर वचन, शास्त्रों और सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय, प्रणव, गायत्री अथवा अन्य वैदिक, तांत्रिक या पौराणिक मोक्षप्रद मन्त्रों का जप वाणी के तप हैं। मन को प्रसन्न रखना, सौम्यभाव, मौन, मनोनिग्रह और शुद्ध-पवित्र विचार मन के तप कहे जाते हैं।

तप से शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि होती है और पापों का क्षय होता है। स्वाध्याय से इष्टदेव की प्राप्ति होती है और ईश्वरानुग्रह से आत्मस्थिति स्वरूप समाधि की सिद्धि होती है। आत्मस्थिति की सहजावस्था उदय होने पर ही कर्मों और योग-उपासनादि साधनों से निवृत्ति मिलती है, पहले नहीं।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।

—गीता ३, १७

—''जो मनुष्य आत्मरमण में लग जाता है, जिसे अपने आत्मस्वरूप में ही तृप्ति और संतोष मिलने लगता है, उस मनुष्य को कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती।''

आत्मस्थिति को ही ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। इसलिए महा-वाक्यों के श्रवण-मनन के पहले उपरोक्त साधनसम्पन्न होने के लिए त्रिविध क्रिया-योग के साधन सहित नित्य विहित कर्मों के अनुष्ठान द्वारा चित्त की वृत्ति को सत्त्वगुण प्रधान बनाना अनिवार्य है। जो लोग ऐसा नहीं करते वे आलसी, अकर्मण्य, अनीश्वरवादी बनकर अन्धतम में पड़ जाते हैं, क्योंकि वे साधनों से दूर भागते हैं और अपने को ब्रह्मज्ञानी समझकर कुछ भी करना व्यर्थ समझते हैं।

नाना वासनाओं के चक्कर में पड़े हुए भ्रान्त-चित्त, तमोगुण-विमूढ़ात्माओं को आत्मस्थिति होना सुलभ नहीं है। आलस्य और निद्रा-तन्द्रा से मुक्त रहने के लिए अपने स्वाभाविक चञ्चल क्षिप्त चित्त रूपी भूत को उन्हें कोई-न-कोई सत्कार्य देना ही चाहिए। आलस्य, निद्रा, तन्द्रा से मलीन बुद्धि को तमोगुण से छुटकारा पाने के लिए रजोगुण की आवश्यकता होती है, क्योंकि तमोगुण से सत्त्वगुण की प्राप्ति नहीं होती। तमोगुण को रजोगुण से दबा देने पर फिर रजोगुण को दबाने के लिए सत्त्वगुण का उदय होना जरूरी है। बिना रजोगुण के तमोगुण दूर नहीं होता और रजोगुण को संयम में रखने से सत्त्वगुण की शान्ति उदय होती है।

देखा जाता है कि बहुधा भगवत् कथा, पूजा-पाठ, ध्यान, जप इत्यादि सात्विक भाव में ले जाने वाले साधनों के लिए बैठते ही बहुत से मनुष्यों पर निद्रा देवी आ सवार होती हैं। उनको पहले कीर्तन-भजन, उच्च स्वर से नाम-स्मरण अथवा प्रार्थना करनी चाहिए अथवा हठयोग के आसन, मुद्रा, प्राणायाम द्वारा तमोगुण को हटाना चाहिए, तभी ध्यान और आत्मचिन्तन में मन को लगाया जा सकेगा। इसीलिए पद्म अथवा सिद्धासनों पर बैठकर जप, ध्यान और आत्मचिन्तन करने का विधान है। कहा है :—

आसीनः संभवात् । — ब्रह्मसूत्र ४, १, ७

अर्थात् आत्मचिन्तन बैठकर ही सम्भव होता है।

✧ ✧ ✧

एकादश विकास

प्रतीक उपासना

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।

—गीता १२, ५

'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'

यजुर्वेद के इस वचन के अनुसार उस परमपुरुष परमात्मा को जानकर ही मनुष्य जन्म-मृत्यु के पाशों से मुक्त हो सकता है, इसके सिवाय अन्य मार्ग नहीं है। जितने पूजा-पाठ, योग-यज्ञ, भजन-कीर्तन, धारणा-ध्यान, जप-जप, स्वाध्याय आदि अनेक साधन किये जाते हैं, वे सब भगवान् से मिलने के लिए ही किये जाते हैं। श्रुति-स्मृतियाँ उसी को पाने के लिए नाना मार्ग बताती हैं।

वेदों, पुराणों और तंत्रों में बहुविधि उपासनाओं का वर्णन है। परमात्मा के निकट रहने को उपासना कहते हैं। ईश्वर कहाँ रहता है, वहाँ कैसे जाया जाता है और उससे कैसे मिला जा सकता है,—इत्यादि प्रश्नों का उत्तर जानना जरूरी है। एक श्रुति कहती है—'ईशा वास्यमिदꣳ सर्वम्'—इस सब जगत् को ईश्वर से व्याप्त देखना चाहिए। दूसरी श्रुतियाँ कहती हैं—'पुरुष एवेदꣳ सर्वम्'—यह सब जगत् पुरुष ही है, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—यह सब निश्चयपूर्वक ब्रह्म ही है। स्मृतियाँ भी कहती हैं—'सर्वं विष्णुमयं जगत्'—सारा जगत् विष्णुमय है, 'वासुदेवः सर्वमिदमिति'—यह सब कुछ वासुदेव ही है। अर्थात् श्रुति-स्मृतियों के वचन जगत् को परमात्मा का ही स्थूल रूप बताते हैं। इसलिए ईश्वर सदा हमारे निकट चारों तरफ परिपूर्ण है, परन्तु हम उसको कभी पाते नहीं, न कभी उसके अस्तित्व का अनुभव करते हैं, क्योंकि परमात्मा स्थूल इन्द्रियों अथवा मन का विषय नहीं है। यदि हमको सदा यह ध्यान बना रहे कि वह सर्वत्र सब वस्तुओं

में बसा हुआ है तो ऐसी निरविच्छिन्न धारणा रहने पर हमारा मन सदा उसके निकट रहने लगेगा। यह एक प्रकार की उपासना है। श्री भगवान् ने गीता में कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।। —६, ३०

—"जो मुझको सर्वत्र देखता है और सब कुछ मेरे अन्दर देखता है, उसके लिए मेरा कभी अभाव नहीं होता और न मैं उसे कभी भूलता हूँ।"

श्रुति-स्मृतियों में ऐसे भी वचन हैं कि परमात्मा सब के हृदय में निवास करता है। 'अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतो मुखः' (यजुर्वेद)—हे विश्वतोमुख परमात्मन् ! तू सब प्राणियों की हृदय-गुहा में रहता है। 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'—वह सब के हृदय में रहता है। 'ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति,' 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत'—गीता में भगवान् ने भी अर्जुन से कहा है कि ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में रहता है, हे भारत ! तू सर्व भाव से 'उसी की शरण में जा। ईसा ने भी कहा है कि स्वर्ग (परमात्मा) का राज्य तेरे हृदय में है। इन वचनों के अनुसार ईश्वर को बाहर न खोजकर अपने हृदय में ही खोजना चाहिए। पहली बाह्य आधिदैविक और दूसरी अभ्यन्तर आध्यात्मिक उपासना कहलाती है।

सर्वव्यापी परमात्मा को एकदेशीय मानकर भी उपासना करने की विधि है, जैसे अग्नि, वायु, सूर्य आदि में। उपनिषदों में 'अन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः' और 'अक्षिणि पुरुषः' अर्थात् सूर्य में हिरण्मय पुरुष और आँख में चमकने वाले पुरुष की उपासना करने की विधि है। इसी प्रकार प्राणब्रह्म, मनोब्रह्म और अन्नब्रह्म की भी उपासना कही गयी है। तंत्रोक्त और पुराणोक्त शिव, शक्ति, विष्णु, गणपति एवं सूर्य की उपासनाएँ प्रतिमाओं और यंत्रों में की जाती हैं। ये सब उपासनाएँ कहीं सर्वदेशीय, कहीं एकदेशीय प्रतीकों द्वारा एक अद्वितीय, विश्वव्यापी, नामरूपातीत परमात्मा की ही की जाती हैं।

यद्यपि कहा है—'न तस्य प्रतिमास्ति तस्यनाम महद्यशः' अर्थात् उसकी जोड़ का दूसरा नहीं है और उसका यश महान्, सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु यह जिज्ञासु की स्वतंत्र इच्छा पर निर्भर करता है कि वह अपने इष्ट को

किस नाम से याद करे और उसका ध्यान करे ? अनेक नामों में से जो नाम प्रिय और मधुर लगता है और जैसा भी ध्यान अभिमत है जो बिना कष्ट के सहज ही परमात्मा की ओर चित्त को खींचकर तल्लीन कर दे, उसे प्रत्येक साधक को स्वतः ही निश्चित् करना चाहिए। मुख्य उद्देश्य तो परमात्मा की प्राप्ति है। नाम और ध्यान का आश्रय उससे मिलने के लिए साधन मात्र हैं। ये दोनों वे कमन्द हैं जिनकी सहायता से मनोतीत, इन्द्रियों से परे, सर्व प्रपञ्च शून्य किन्तु आनन्दविग्रह परिपूर्ण परमपद तक पहुँचा जा सकता है। वहाँ तक पहुँचने के लिए जल, थल या वायुयानों के साधन काम नहीं देते, न वहाँ पैदल जाया जा सकता है। उसको हाथ-पैर तो क्या, दृष्टि और मन भी नहीं पकड़ पाते। परन्तु तो भी अपने याद करने वाले के हृदय में वह स्वयं प्रकट हो जाता है। न कहीं जाने की आवश्यकता होती है और न ही ढूँढने की। कहा है :—

अजब तेरा कानून देखा खुदाया,
जहाँ दिल दिया फिर वहीं तुझको पाया।
न यां देखा जाता है मन्दिर और मस्जिद,
फकत यह कि तालिब सिदक दिलसे आया।।

किसी नाम और ध्यान के आधार पर परमात्मा को पाने के साधन को प्रतीक उपासना कहते हैं। प्रतीक उपासनाएँ आधिदैविक और आध्यात्मिक भेद से दो प्रकार से की जाती हैं। ईश्वर को अपने शरीर से बाहर और अपने से भिन्न मानकर बाह्य उपासना करना आधिदैविक उपासना कहलाती है और अपने मन, प्राण अथवा हृदय में परमात्म-भाव की धारणा करके अभ्यन्तर उपासना करना आध्यात्मिक उपासना कहलाती है।

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो बृह्मेति।

—छान्दोग्योपनिषद् ३, १८, १

—"मन में ब्रह्मभावना रखकर उपासना करो, यह अध्यात्म उपासना है और आकाश में ब्रह्मभाव रखकर उपासना करना अधिदैवत है।"

प्रतीक-उपासक उपास्य देव को अपने से भिन्न मानकर उपासना करता है, परन्तु अद्वैतवादी परमात्मा को अपना अन्तरात्मा या अपने शुद्ध आत्मा को परमात्मा समझकर सदा उसमें अपने चित्त की स्थिति रखता

है। यह अहंग्रह उपासना कहलाती है।

'ईश्वर अपने भीतर-बाहर सर्वत्र सब स्थानों में व्याप्त है'—इस भावना से युक्त होकर ही प्रतीक उपासना की जानी चाहिए। प्रतीक उपासना से अन्तःकरण की शुद्धि होकर मन एकाग्र रहने लगता है। उसमें सङ्कल्पों का उदय-अस्त बन्द हो जाने पर आत्मस्थिति अथवा ब्रह्मभावयुक्त ब्राह्मी स्थितिरूपी स्थितप्रज्ञता अथवा सहजावस्था का उदय होने लगता है। यही अहंग्रह उपासना है जो प्रतीक उपासना का फल है, क्योंकि प्रतीक में ब्रह्मभाव रखकर उपासना करने से ब्राह्मी स्थिति की उपलब्धि होती है। परन्तु प्रतीक में आत्मभावना रखने का निषेध है—

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च । —ब्रह्मसूत्र ४, १,३

सत्यकाम जाबाल के अनुयायी ऋषियों ने आत्मा में ब्रह्म-भावना रखकर उपासना करने की विधि बताई है और उसे स्वयं भी ग्रहण किया है, परन्तु प्रतीक में आत्मभावना रखने का निषेध किया गया है—

न प्रतीके न हि सः । —ब्रह्मसूत्र ४, १, ४

—''प्रतीक में आत्मभावना न करे, क्योंकि प्रतीक आत्मा नहीं है।''

इस सूत्र पर भाष्यकार श्री शङ्कराचार्य ने शङ्का-समाधान करते हुए अपना मन्तव्य निम्न प्रकार दिया है—

''प्रतीकों में आत्मबुद्धि नहीं रखनी चाहिए। उपासक अपने ध्येय के विषयस्वरूप प्रतीकों में अपने आत्मतत्व की भावना न करें यदि कहो कि ब्रह्म का विकार होने के कारण प्रतीकों का ब्रह्मत्व सिद्ध होता है तो आत्मत्व भी सिद्ध है, ब्रह्म और आत्मा का अभेद होने के कारण। तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से प्रतीक के अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होता है अर्थात् फिर प्रतीक उपासना की आवश्यकता ही नहीं रहती। विकार के स्वरूप का लय होने पर ही नामादि से उत्पन्न होने वाली ब्रह्मभावना का आश्रय आता है। स्वरूप के लय हो जाने पर नामादि प्रतीकों में प्रतीक-भावना अथवा आत्मभावना कहाँ? अर्थात् दोनों नहीं रहते और ब्रह्म का आत्मा से अभेद होने के कारण भी जिन विषयों में ब्रह्मदृष्टि करने का उपदेश है, उनमें आत्मदृष्टि की कल्पना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ब्रह्मदृष्टि के उपदिष्ट विषयभूत प्रतीकों में कर्तृत्व (कर्ताभिमान) का निराकरण नहीं होता। अर्थात् उसमें 'मैं उपासना करता हूँ' यह कर्तृत्व

बना रहता है और कर्तृत्वाभिमानादि सब संसारी धर्मों के निराकरण होने पर ही ब्रह्म में आत्मभाव करने का उपदेश है। जब तक उन संसारी धर्मों का निराकरण नहीं होता, तब तक ही प्रतीक उपासना का विधान है। उपासक का प्रतीकों के साथ समत्व हो जाने की आशङ्का से उनमें आत्मभावना का उपदेश नहीं किया जाता, इसलिए प्रतीकों में आत्मदृष्टि नहीं की जाती।"

प्रतीक-उपासना द्वैतभावयुक्त होकर ही की जा सकती है। जैसे प्रतीक में ब्रह्मदृष्टि रखकर उपासना करने का विधान है, वैसे ही अहम् अर्थात् अपने स्वरूप में भी ब्रह्म भावना करने का विधान है जिसको अहंग्रह उपासना कहते हैं। अहंग्रह उपासना में अपने स्वरूप में ब्रह्मभावना और ब्रह्म में आत्मभावना की जा सकती है क्योंकि आत्मतत्व ब्रह्म से भिन्न नहीं है। प्रतीक में ब्रह्मदृष्टि कर सकते हैं, किन्तु ब्रह्म में प्रतीक की भावना नहीं की जानी चाहिए। कहा है—

ब्रह्म दृष्टिरुत्कर्षात् । —ब्रह्मसूत्र ४, १, ५

अर्थात् प्रतीक के उत्कर्ष के कारण उसमें ब्रह्मदृष्टि रखने का विधान है। जैसे सूर्य में ब्रह्मदृष्टि की जा सकती है, पर ब्रह्म में सूर्य की भावना नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार शालिग्रामादि प्रतिमाओं में विष्णु आदि की भावना रख कर उपासना की जाती है, परन्तु विष्णु भगवान् में प्रतिमा की भावना नहीं रखनी चाहिए। प्रतीक ब्रह्म हो सकता है, परन्तु ब्रह्म प्रतीक नहीं होता—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।। —गीता ७, २४

अन्न, मन, प्राण आदि ब्रह्म कहे जा सकते हैं, परन्तु ब्रह्म मन, प्राण या अन्न नहीं है। अङ्गों में अङ्गी का भाव उसका उत्कर्ष करता है। माता-पिता और गुरुजनों के चरणों में माता-पिता या गुरु का भाव किया जाता है, परन्तु माता-पिता या गुरु को चरण नहीं माना जा सकता अथवा जैसे तहसीलदार या न्यायाधीश को सरकार कहते हैं, परन्तु सरकार को तहसीलदार या न्यायाधीश नहीं कहा जा सकता। यज्ञों में ब्रह्मा के स्थान पर मनुष्य अथवा कुशा की प्रतिमा बना कर रखते है, वहाँ उनमें ब्रह्मा का भाव होता, परन्तु ब्रह्मा वह मनुष्य नहीं होता। इसी प्रकार मंत्र देवता

का रूप है, परन्तु देवता मंत्र नहीं है। नामी से नाम पृथक् नहीं है, परन्तु नामी नाम नहीं होता।

जैसे प्रतिमाओं में ब्रह्मदृष्टि रख कर उपासना करने का विधान है, उसी प्रकार मंत्रों में भी देवता की भावना रखनी पड़ती है क्योंकि मंत्र भी शब्दमय प्रतीक है। मंत्रों के जप को स्वाध्याय कहते हैं, परन्तु जप के साथ ध्यान भी करना आवश्यक है। कहा है:—

तज्जपस्तदर्थ भावनम्। —योगदर्शन १, २८

श्रीमच्छङ्करभगवत्पाद के ऊपर दिये गये मन्तव्य से प्रतीकोपासना की उपयोगिता, उसकी विधि और फल स्पष्ट है। अब हम नीचे योगदर्शन के सिद्धान्तानुसार प्रतीक उपासना का रहस्य दिखाते हैं। जब मन किसी स्थूल अथवा सूक्ष्म विषय पर लगाया जाता है, तब प्रथम अवस्था में ध्याता, ध्यान और ध्येय—तीनों की त्रिपुटी रहती है। 'मैं ध्यान कर रहा हूँ और मेरे ध्यान का विषय मेरे से भिन्न है'—इसमें आत्म-सम्बन्धी, ध्यान-सम्बन्धी और ध्यान के विषय से सम्बन्ध रखने वाली तीन वृत्तियाँ कार्य करती रहती हैं जिनको क्रमशः ध्याता, ध्यान और ध्येय कहते हैं। अर्थात् अपने अहम्पने का कर्तृत्व ज्ञान, ध्यान की क्रिया का ज्ञान और ध्येय पदार्थ के अपने से पृथक् अस्तित्व का ज्ञान-तीनों स्पष्ट अनुभव में रहते हैं। मन की एकाग्रता बढ़ने पर ध्येयाकार वृत्ति होने लगती है और ध्याता एवं ध्यान की प्रथम दोनों वृत्तियों का अभाव होने लगता है, यहाँ तक कि क्रमशः अन्त में ध्येयाकार वृत्ति हो जाती है। इस अवस्था को योगदर्शन की परिभाषा में 'तदञ्जनता समापत्ति' अर्थात् तद्रूपता की प्राप्ति कहते हैं। यह समाधि की अवस्था है—

क्षीण वृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृ ग्रहण ग्राह्येषु तत्स्थ तदञ्जनता समापत्तिः। —योगदर्शन १, ४१

अर्थात् वृत्तियों के क्षीण होने पर, अभिजात मणि (स्फटिक) के सदृश्य ग्रहीता (ध्याता), ग्रहण (ध्यान) और ग्राह्य (ध्येय)—तीनों में से जिस पर भी चित्त की स्थिति होती है, उसी के साथ उसकी तदञ्जनता समापत्ति हो जाती है।

ध्येय के ज्ञान में तीन प्रकार की वृत्ति का समावेश रहता है—नाम से सम्बन्ध रखने वाला शब्द ज्ञान, ध्येय पदार्थ के अस्तित्व का ज्ञान और

उसके रूप, आकृति और गुणों का ज्ञान। तीनों को क्रमशः शब्द, अर्थ और ज्ञान की वृत्ति कहते हैं। एक शब्द अथवा वाचक के भिन्न-भिन्न वाच्य पदार्थ हो सकते हैं, जैसे पशु कहने से गाय, भैंस, कुत्ता आदि अनेक प्रकार के जानवरों का ज्ञान हो सकता है। 'पशु' एक शब्द मात्र है जो उससे सम्बन्ध रखने वाली वृत्ति श्रवणेन्द्रिय का विषय है। अर्थ ज्ञान वह है जो दृष्टि और स्पर्शेन्द्रिय का भी विषय अर्थात् पदार्थ है। तीसरी वृत्ति बुद्धि से सम्बन्ध रखती है, जैसे वह पशु सुन्दर है या भयानक है अथवा अन्य कोई ज्ञान जो उसके देखने से चित्त में उत्पन्न हो। समाधि की अवस्था में ध्यान करने वाले मनुष्य को अपने स्वरूप की तो विस्मृति-सी हो जाती है, इसलिए ध्याता और ध्यान की वृत्ति का अभाव-सा हो जाता है और ध्येय के नाम तथा ज्ञान की वृत्तियाँ भी नहीं रहतीं, केवल अर्थज्ञान का भास बना रहता है।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

—योगदर्शन ३, ३

अर्थात् वह (ध्यान) ही, जब ध्येय के अर्थ मात्र का भास रह जाता है और उसके स्वरूप की शून्यता-सी हो जाती है, समाधि कहलाता है।

प्रतीकों में ब्रह्मभाव न रखकर यदि ध्यान किया जायेगा तो प्रतीक के पदार्थ का ज्ञान समाधि में होगा—इसलिए ब्रह्मदृष्टि रखने पर जब आत्म-विस्मृति के साथ ध्येय के स्वरूप की भी विस्मृति होगी तब ब्रह्मभाव में चित्त का लय होगा। जब साधक प्रतीकों की सहायता से ब्रह्मभाव में समाधिस्थ होने का अभ्यासी हो जाता है, तदुपरान्त प्रतीकों का आश्रय छोड़कर 'यत्र-यत्र मनो याति तत्र-तत्र समाधयः'—जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहीं-वहीं समाधि में रहने लगता है। यही ब्राह्मी स्थिति कहलाती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि 'तदञ्जनता समापत्ति' ग्राह्य, ग्रहण और गृहीता अर्थात् ध्येय, ध्यान और ध्याता तीनों में से किसी पर भी की जा सकती है। यदि ध्येय का विषय अपना आत्मा ही होता है तो अपने स्वरूप में स्थिति होती है। उस समय अहम् में ब्रह्मभाव रखकर 'अहम् ब्रह्मास्मि' का चिन्तन करने से अहंग्रह उपासना द्वारा ब्राह्मी स्थिति

की प्राप्ति होगी—

ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्या निरालंबतया स्थितिः।
ध्यान शब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी।।
निर्विकारतया वृत्या ब्रह्माकारतया पुनः।
वृत्ति विस्मरणं सम्यक् समाधिज्ञान संज्ञकः।

—अपरोक्षानुभूति १२३, १२४

जप भी एक प्रकार की प्रतीक उपासना ही है। जप के लिए जो नाम अथवा मन्त्र लिया जाता है, उसको ही देवता की सूक्ष्म मूर्ति माना जाता है, इसलिए उसमें भी ब्रह्मदृष्टि रखकर जप करना चाहिए। जप करते-करते यदि शरीर में कम्प, रोमाञ्चादि होने लगे तो समझना चाहिए कि मन्त्र चेतन हो गया है। कहा है—

ध्यायेद्योगी यदा मंत्रं गात्रकम्पोऽथ जायते ।

—योगशिखोपनिषद्

शरीर में कम्प और रोमांच होने का कारण यह है कि उस मन्त्र की शक्ति से साधक की प्राणशक्ति का उत्थान होने लगता है और उसके प्राण उठकर परमात्मा में लीन होने लगते हैं। अथर्व शिखोपनिषद् में प्रणव की व्याख्या इसी प्रकार की गई है—

प्राणान् सर्वान् परमात्मनि प्रणामयतीति एतस्मात् प्रणवः।

अर्थात् सब प्राणों को परमात्मा में प्रणाम कराता है, इसलिए उसे प्रणव कहते हैं। योगदर्शन में भी जप रूपी स्वाध्याय का फल इष्ट देव की प्राप्ति कहा गया है—

स्वाध्यायादिष्ट देवता संप्रयोगः। —योगदर्शन २, ४४

श्री भगवान् ने जप का माहात्म्य इतना अधिक कहा है कि जप को सब से ऊँचा यज्ञ बताकर उसे अपना ही स्वरूप कहा है। अपनी प्रमुख विभूतियों का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं—'यज्ञानां जपयज्ञोस्मि।' इसी अभिप्राय से कहा जाता है कि 'मननात् त्रायते इति मंत्र' अर्थात् मनन करने से त्राण कर देता है, इसलिए मन्त्र कहलाता है।

यह कहा जा सकता है कि जप के साथ भी उसके अर्थ के इष्टदेव ब्रह्म का ध्यान आवश्यक है। प्रतीक और मंत्र दोनों में क्रमशः रूप

और नाम का सम्बन्ध है, परन्तु ध्यान का विषय नाम-रूप के आश्रित रहने वाला उनका अर्थ होता है। समाधि की स्थिति में नाम तथा रूप दोनों छूट जाते हैं और उनके आश्रित रहने वाले भावनायुक्त अर्थ में मन लीन हो जाया करता है। भिन्न-भिन्न देशों की भाषाओं में परमात्मा को अनेक नामों से संबोधित किया जाता है, जैसे राम, कृष्ण, हरि, हर, शिव, अल्ला, खुदा, गॉड इत्यादि और इन नामों के साथ मनुष्य की समझ और संस्कारों के अनुसार भावना भी भिन्न-भिन्न होती है। परन्तु किसी भी नाम के साथ ईश्वर की सत्ता जो चेतन और आनन्दमयी है और जो सर्वोपरि परमार्थ सत्ता है, उसके ध्यान से वाणी के विषयभूत नाम और तत्सम्बन्धी ज्ञान की लीनता के पश्चात् साधक की वृत्ति सच्चिदानन्द ब्रह्म में ही लीन हो जायेगी। इसी को ईश्वरीय ज्ञान कहते हैं। कहा है—

स्वाध्यायात् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय योग सम्पत्या परमात्मा प्रकाशते।।

बहुधा लोगों को शिकायत करते सुना जाता है कि गायत्री मन्त्र, प्रणव या राम-कृष्णादि नामों का बहुसंख्यक जप करने पर भी उनका मन स्थिर नहीं होता और न चित्त में समाधान या शान्ति आती है। इसका कारण यह होता है कि वह मन्त्र या नाम जिसका जप किया जाता है, किसी अनुभवी तत्वज्ञ से नहीं लिया जाता। पुस्तकों अथवा अपने ही जैसे सामान्य मनुष्यों से प्राप्त किये हुए मन्त्रों में चेतना शक्ति नहीं होती और उनका जप भस्म में आहुति देने के तुल्य होता है। पागल अथवा विकृत मस्तिष्क वाले मनुष्य से भी कोई मन्त्र नहीं लेना चाहिए, उसका प्रभाव हानिकर हो सकता है।

ध्यान दो प्रकार का होता है—साधार और निराधार। साधार से निराधार ध्यान में पहुँचना है, यह हमारा लक्ष्य रहना चाहिए। चाहे प्रतीक स्थूल हो अथवा सूक्ष्म, प्रतीक- उपासना में साधार ध्यान ही होता है। शब्दों के अर्थ का ध्यान, प्रतिमाओं, ज्योतियों अथवा अन्य किसी सूक्ष्म तत्व का ध्यान और विचारों का चिन्तन—ये सभी साधार कहलाते हैं, परन्तु चित्त की सङ्कल्प-विकल्प रहित निरालम्ब अवस्था को निराधार ध्यान कहते हैं। चित्त की तैल धाराकार अटूट प्रवाह से एकतानता होने को ध्यान कहते हैं। चित्त को जिस विषय पर बाँधा जाता है, उसी के आधार पर एकतानता होने को ध्यान कहते हैं। निराधार ध्यान में मन निरालम्ब रहने

लगता है। निरालम्ब का अभिप्राय नाम-रूपों के आश्रय से रहित है,—ब्रह्मभाव अथवा आत्म-चिन्तन से रहित नहीं है। कहा है—

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।

—गीता ६, २५

अर्थात् मन को आत्मस्थित करके कुछ भी चिन्तन नहीं करना चाहिए।

यद्यपि जप और ध्यान ये दो ही उपासना के मुख्य अङ्ग हैं, परन्तु इनकी पुष्टि के लिए भक्ति बहुत बड़ी सहायक होती है। बहुधा भक्ति का अर्थ प्रेम किया जाता है, परन्तु ईश्वर से मिलने की उत्कण्ठा या तीव्र इच्छा, जिसको लौ या लगन भी कहते हैं, भक्ति का वास्तविक स्वरूप है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।।

—गीता १२, ६

अर्थात हे अर्जुन ! यदि तू मेरे में अनन्य योग द्वारा अपने चित्त को स्थिर समाहित नहीं रख सकता तो अभ्यासयोग के द्वारा मुझको प्राप्त करने की इच्छा कर।

भगवत्प्राप्ति की इच्छा के साथ उसके किसी भी नाम को याद किया जाता है तो जप के साथ ध्यान स्वतः लगने लगता है। इसलिए श्रद्धा, भक्ति सहित जप और स्वाध्याययुक्त ध्यानोपासना से परब्रह्म की प्राप्ति होती है जिसकी प्रारम्भिक शिक्षा प्रतीकों के सहारे दी जाती है।

द्वादश विकास

सांख्य, योग और वेदान्त

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।।

—गीता १३, २४-२५

—"कोई बिरले तो ध्यान योग द्वारा, अन्य सांख्य योग के द्वारा और दूसरे कर्मयोग द्वारा अपने आत्मा में, आत्मा से आत्मा को देखते हैं। परन्तु अन्य लोग (जिनकी ध्यान योग, सांख्य योग और कर्मयोग तीनों में गति नहीं हैं) उपरोक्त मार्गों की सहायता से आत्मा को न जान सकने के कारण, दूसरे मनुष्यों से आत्मा के बारे में श्रवण करके उपासना करते हैं। वे लोग भी श्रुतिपरायण होने से मृत्यु को तर ही जाते हैं।"

यहाँ ध्यान-योग को सबसे उत्कृष्ट साधन कहा गया है। उससे नीचे दर्जे का साधन सांख्य योग अर्थात् विचार का साधन है क्योंकि विचार द्वारा ध्यान-योग की प्राप्ति हो जाती है। तीसरे दर्जे पर कर्मयोग है। जो मनुष्य तीनों से अनभिज्ञ हैं, वे श्रवण मात्र के आधार पर, उपरोक्त तीनों मार्गों में से किसी मार्ग की दीक्षा लिये बिना ही उपासना करते हैं। आजकल के वाचक ज्ञानी चौथे दर्जे में आते हैं। उनके परोक्ष ज्ञान के लिए ही श्री भगवान् अन्यत्र कहते हैं—'ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते।'

इन श्लोकों के भाष्य में श्रीमच्छङ्कराचार्य ध्यान, सांख्य एवं कर्मयोग की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—'शब्दादि विषयों से श्रोत्रादि इन्द्रियों को हटाकर उनका उपसंहार मन में करके (अर्थात् प्रत्याहारपूर्वक) मन की प्रत्यक् चेतनात्मा में एकाग्रता (चित्त की एकाग्र-परिणामावस्था) से स्थिति रखने

को ध्यान कहते हैं।' कोष्ठकों में हमारा स्पष्टीकरण है। सांख्ययोग की व्याख्या भाष्यकार आचार्य इस प्रकार करते हैं—'सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—तीनों मेरे से देखे जाने वाले विषय हैं। मैं इनसे भिन्न, इनके व्यापारों का साक्षी, नित्य, तीनों गुणों से विलक्षण चेतन आत्मा हूँ,—ऐसा चिन्तन करना सांख्ययोग कहलाता है।'

तीसरे दर्जे के साधक ईश्वरार्पण बुद्धि से (फलसंन्यासयुक्त) कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वे कर्मयोगी कहलाते हैं। कर्मयोग से अन्तःकरण की शुद्धि होकर ज्ञान के उदय होने पर आत्मा को आत्मा में देखा जा सकता है। चौथी श्रेणी के निकृष्ट साधक वे हैं जिन्होंने पूर्वोक्त साधनों द्वारा आत्मतत्व को तो नहीं जाना, परन्तु दूसरों से सुनकर ही बहिरङ्ग अथवा अन्तरङ्ग उपासना करते हैं। वे लोग स्वयं विवेकहीन और योगादि साधनों के करने में असमर्थ होने के कारण दूसरों से सुनकर ही उनके वचनों पर श्रद्धा रखकर उपासना करते हैं। वे भी कालान्तर में दृढ़ अभ्यास से अथवा भगवान् के अनुग्रह से पार लग जाते हैं। श्री भगवान् कहते हैं—

ददामि बुद्धि योग तं येन मामुपयान्ति ते।। —गीता

प्रायः देखने में आता है कि बहुत से वाचक ब्रह्मज्ञानी 'कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिनः'—सांख्य और योग के नामों से चिढ़ते हैं। उनके मत से सांख्य और योग में समय लगाना व्यर्थ का परिश्रम है। परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। कर्म, उपासना, सांख्य, योग और वेदान्त आध्यात्मिक जीने की उत्तरोत्तर सीढ़ियाँ हैं। सांख्य के ऊपर योग और योग के ऊपर ज्ञान की सीढ़ी आती है। ज्ञान के लिए भगवान् कहते हैं :—

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।। —गीता

अहंग्रह उपासना और निदिध्यासन दोनों राजयोग के इतने ऊँचे साधन हैं जिनपर एकदम आरूढ़ होना कठिन है। सांख्य, योग और वेदान्त में केवल दृष्टिकोण का अन्तर है। कहा है :—

सांख्य योगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः —गीता

वेदान्त का दृष्टिकोण एक जीवनमुक्त का पारमार्थिक दृष्टिकोण है, परन्तु योग का दृष्टिकोण एक साधक का व्यावहारिक दृष्टिकोण है जो

जितना-जितना उन्नति करता जाता है, उतने ही उच्च स्तरों पर सावधानी से पैर रखता जाता है। वेदान्त एक आदर्श है जो प्राप्तव्य पद है। योग एक प्रक्रियात्मक साधन है जो उस पद की अनुभूति प्राप्त करने के योग्य चित्त की भूमिका तैयार करता है। चित्त की समाहित अवस्था को योग कहते हैं और समाहित चित्त में जो आत्मज्ञान प्रकाशित होता है, उसकी अनुभूति को ज्ञान कहते हैं। चित्त को समाहित करने के अभ्यास को भी योग कहते हैं। योग शब्द की व्युत्पत्ति 'युज्समाधौ' से है। विषयाभिमुखी वृत्तियों से चित्त का निरोध करना और उसको अन्तर्मुखी करके आत्मा में स्थित करना योग कहलाता है। तदनन्तर उस शान्त चित्त में ब्रह्म का प्रकाश अनुभवगम्य होने लगता है, उसको समझना अपरोक्ष ज्ञान कहलाता है। योग चित्त की शान्त, समाहित अवस्था का नाम है और उस अवस्था में आत्म-ज्योति की अनुभूति को ज्ञान कहते हैं। कहा है :—

दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।

बुद्धि के अग्रभाग को योगरूपी सान पर चढ़ा कर तीक्ष्ण अर्थात् सूक्ष्म करना पड़ता है, तब उस योगसंसिद्ध बुद्धि से आत्मा देखा जाता है। आत्मदर्शन ही ब्रह्म ज्ञान कहलाता है। तब साधक 'अहम् ब्रह्मास्मि' पद का अर्थ हृदयङ्गम करके ब्रह्मभाव में जीव को मिटा देता है अर्थात् योगयुक्त योगी ही ज्ञानी कहलाने का अधिकारी है, दूसरा नहीं।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।

—गीता ६, ७-१५

इस श्लोक की प्रथम पंक्ति में योग का साधन कहा गया है और दूसरी पंक्ति में ज्ञान की अनुभूति का निर्देश है।

जब तक मनुष्य का चित्त चञ्चल रहता है, उस पर आत्मा का प्रकाश अनुभवगम्य नहीं होता, इसलिए आत्मानुभूति के लिए चित्त की एकाग्रता सम्पादित करना पहला काम है। चित्त एकाग्र होने पर आत्मा रूपी सूर्य का प्रकाश, जो कभी अस्त नहीं होता, स्वयं दीखने लगता है। कहा है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तमाहु परमां गतिम्।।

—कठोपनिषद्

प्रथम अवस्था में यह प्रपञ्च सत्यवत् भासता है। मनुष्य चाहे कितना भी क्यों न सोचे कि यह संसार अनित्य और असत्य है, परन्तु उसके अविद्या-मूलक संस्कार उसको बाध्य करते हैं और वह अपने चित्त से संसार की सत्यता की भावना को दूर करने में समर्थ नहीं होता। बार-बार सोचने पर भी उसकी अविद्या का नाश नहीं होता। प्रत्येक मनुष्य इस जगत् में जड़ और चेतन दो विभाग देखता है, क्योंकि विपरीत गुण वाली जड़ और चेतन दो शक्तियाँ स्पष्ट दीख पड़ती हैं। सबसे निकृष्ट बुद्धि का मनुष्य सोचता है कि चेतन शक्ति की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, वह भौतिक पदार्थों के संयोग का ही एक परिणाम मात्र है। हृदय, नाड़ियों और दिमाग की क्रियाओं का ही नाम चेतन शक्ति है। उनके विकृत हो जाने पर वह शक्ति भी नष्ट हो जाती है क्योंकि वह एक प्रकार की रासायनिक क्रिया (chemical action) का फल है। हृदय के स्पन्दन से होने वाले रक्त-प्रवाह का ही नाम जीवनी शक्ति है। दिमाग का कार्य ही मन, बुद्धि है क्योंकि इसी की सहायता से सब अवयव कार्य करते रहते हैं। यदि दिमाग बिगड़ जाता है तो मन और बुद्धि में भी विकार आ जाता है। हृदय की क्रिया बन्द हो जाने पर चेतना बुझ जाती है। इसलिए न कोई आत्मा है, न ईश्वर, न धर्म और न अधर्म।

यावज्जीवेत्सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूत शरीरस्य पुररागमनं कुतः।।

यह अनात्मवादी चार्वाकादि और आधुनिक भौतिक विज्ञानियों का मत है। वे लोग न आत्मा की सत्ता में विश्वास करते हैं, न ईश्वर की सत्ता में। यदि इनमें धर्म के संस्कार होते भी हैं तो वे सामाजिक अथवा राजनीतिक दृष्टि लेकर ही होते हैं, आध्यात्मिक विकास के लिए नहीं होते।

इनसे कुछ अधिक विचारवान् कहते हैं कि भौतिक शरीर में जो चेतना है, वह भौतिक पदार्थों के संयोग की क्रिया मात्र का फल नहीं है वरन् उसकी भी कोई स्वतंत्र सत्ता है जिसमें क्रिया शक्ति के साथ ज्ञान शक्ति और इच्छा शक्ति होने की विशेषता है। यदि चेतना को भौतिक परमाणुओं के संयोग का ही फल माना जाय तो यह मानना पड़ेगा कि उसकी संज्ञानात्मिका शक्ति और इच्छा शक्ति दोनों उन परमाणुओं में पहले से ही मौजूद हैं क्योंकि अभाव से किसी वस्तु का भाव नहीं हो सकता। ऐसी हालत में सारे भौतिक पदार्थों को चेतन शक्ति का ही विकार कहा

जा सकेगा। यह बात भौतिक विज्ञानवादियों को मान्य नहीं है।

तृण, लता, वृक्षादि उद्भिजों में क्रिया शक्ति तो दीख पड़ती है, पर शेष दो का अभाव प्रतीत होता है। इसलिए बहुत से लोगों का मत है कि उनमें तो चेतन शक्ति नहीं है, परन्तु कीट, पतङ्ग, सर्प, पक्षी, पशु आदि में है। इनमें भी देखने, सुनने, चलने, फिरने की क्रिया और ज्ञान शक्ति होते हुए भी सोचने-समझने की शक्तियों का अभाव-सा दीख पड़ता है। वे जो कुछ करते हैं, वह बिना सोचे-समझे अपने स्वभाववश ही करते हैं। इसलिए ऐसे लोगों के मत के अनुसार पशुओं में जो चेतन शक्ति है, वह मनुष्य की चेतन शक्ति से भिन्न है अर्थात् चेतन शक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है।

बन्दर, कुत्ता, घोड़ा, हाथी जैसे अनेक पशुओं में बुद्धि और इच्छा की प्रतीति होती है, इसलिए कुछ लोग सोचते हैं कि उनमें आत्मा तो है, परन्तु मनुष्यों की आत्मा उनमें नहीं है और इसलिए वे इनको मारने में कोई दोष नहीं समझते। बहुत से लोग पशुओं में भी ज्ञान और इच्छा शक्तियों के तारतम्य को देखकर कहते हैं कि उन्नति करके पशुओं की आत्मा का मनुष्य शरीर धारण करना सम्भव प्रतीत होता है, परन्तु मनुष्य की उन्नत आत्मा का पशु-देहों में अधोगमन सम्भव नहीं हो सकता अर्थात् आत्मा में भी परिणाम होता रहता है और वह नीचे स्तरों से ऊँचे स्तरों में उन्नति किया करती है। उनके विचार से आत्मा हाड़-मांस के शरीरों से तो भिन्न कोई वस्तु अवश्य है, परन्तु देखने, सुनने, सूँघने, छूने, चखने एवं खाने-पीने, चलने, पकड़ने, बोलने और मैथुन क्रिया की शक्तियाँ आत्मा के ही अङ्ग हैं और मनुष्य की आत्मा में इन शक्तियों के साथ-साथ सोचने-समझने आदि की भी शक्तियाँ होती हैं। इसी आधार पर मनुष्य और पशुओं की आत्मा में स्वाभाविक अथवा विकास का अन्तर है।

इस से भी अधिक सूक्ष्म विचार करने वालों ने आत्मा के स्वरूप पर विचार करके निश्चय किया है कि उपरोक्त सब शक्तियों के न्यूनाधिक विकास दीखने से उनमें परिणाम-शीलता माननी पड़ती है। इसलिए अपरिणामी आत्मा जैसे हाड़-मांस के भौतिक शरीरों से भिन्न है, वैसे ही उक्त शक्तियो से भी भिन्न है। उक्त शक्तियाँ सूक्ष्म शरीर के अङ्ग हैं जो स्थूल भौतिक देह के अन्दर सूक्ष्म तत्वों का बना होता है। सांख्याचार्य कपिल भगवान् ने प्रकृति, पुरुष—जड़ और चेतन दो विभाग मानकर प्रकृति को २४ तत्वों

की संख्या में विभक्त किया है। उनका क्रम इस प्रकार है—[१] अव्यक्त मूल प्रकृति है, [२] महत् अहङ्कार और ५ तन्मात्राएँ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये सात प्रकृति और विकृति दोनों हैं, [३] मन, ५ ज्ञानेन्द्रियों—श्रवण, स्पर्श, दृष्टि, चखने और सूँघने की शक्तियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ—वाणी, ग्रहण करने की, गति, मैथुन, और मलों के त्याग करने की शक्तियाँ और ५ महाभूत—आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी,—ये सोलह विकार हैं। पुरुष इनसे भिन्न न प्रकृति है और न विकृति है।

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। सत्व, रज और तम तीन गुण हैं। सत्व हलका और प्रकाशक है, रज उत्तेजक और क्रियावान् है तथा तम भारी और रुकावट लाने वाला है। अव्यक्त में तीनों गुण साम्य अवस्था में रहते हैं और महत् में तीनों विषम अवस्था में आ जाते हैं। पुरुष आत्मा त्रिगुणातीत है। वह चेतन, ज्ञानस्वरूप एवं आनन्दमय है। तीनों गुणों में विषमता आने पर महत्तत्त्व पर साक्षी, अविकारी, अकर्ता आत्मा का चेतन प्रकाश पड़ने से सात्विक, राजसिक और तामसिक अहङ्कार की झलकियाँ उठने लगती हैं।

सात्विक अहङ्कार के अन्तःकरण रूपी मन और १० इन्द्रियाँ—११ विकार हैं। राजसिक के मन, दसों इन्द्रियाँ और पाँच तन्मात्राएँ, १६ विकार हैं। तामसिक अहङ्कार के ५ विकार ५ तन्मात्राएँ हैं और इनके विकार ५ महाभूत हैं। अर्थात् रजमिश्रित सत्व से मन तथा इन्द्रियों की और रजमिश्रित तम से ५ तन्मात्राओं की सृष्टि होती है। ५ महाभूतों का स्थूल शरीर, ५ तन्मात्रा, ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहङ्कार का सूक्ष्म शरीर एवं अव्यक्त का कारण शरीर होता है।

बुद्धि को महत्तत्व का ही रूप जानना चाहिए। पुरुष अर्थात् आत्मा चेतन स्वरूप, साक्षी और प्रकृति के उपरोक्त २४ तत्वों से भिन्न है। मनुष्यों में मन, बुद्धि और अहङ्कार अधिक विकसित होते हैं, अन्य योनियों में कम विकसित होते हैं। उद्भिजों से लेकर मनुष्यों तक के शरीर पाँच महाभूतों के बने हैं, परन्तु उन शरीरों की रचना के भेद के अनुसार उनमें अन्य सूक्ष्म तत्वों के न्यूनाधिक विकास का तारतम्य है। आत्मा सब में समान रूप से निर्लिप्त और असङ्ग है, परन्तु शरीर रूपी यंत्र के अनुसार उसकी प्रतिभा किसी योनि में कम और किसी में अधिक दीख पड़ती है अर्थात् उद्भिज, कीट, सरिसृप (जल के जीव और सर्पादि), पक्षी,

पशु और मनुष्यों में उनके शरीरों की रचना के अनुकूल ही शरीर की इन्द्रियों, मन, बुद्धि और अहङ्कार का विकास होता है।

शरीर की उपाधि से आत्मा में कोई अन्तर नहीं आता। आँखें फूट जाने से अन्धे मनुष्य या पशु की आत्मा अन्धी नहीं होती। इसी प्रकार जिह्वा आदि अन्य अङ्गों के नष्ट हो जाने से आत्मा में कोई अन्तर नहीं आता, परन्तु किसी अङ्गहीन शरीर में उस अङ्ग की शक्ति का विकास नहीं हो सकता। इसी तरह समझना चाहिए कि यदि मनुष्य देह में से सूक्ष्म शरीर निकलकर बन्दर के शरीर में प्रवेश कर जाय तो वहाँ उसकी बुद्धि बन्दर के दिमाग के अनुसार ही कार्य कर सकेगी, मनुष्य के दिमाग की तरह नहीं। देखा जाता है कि दिमाग पर चोट लग जाने से विद्वानों की स्मृति भी विकृत हो जाती है, परन्तु इससे उनकी आत्मा में क्या कोई अन्तर आ सकता है? कदापि नहीं, क्योंकि आत्मतत्व के बेकार हो जाने पर उसकी चिकित्सा नहीं हो सकती और फिर तो आत्मा का नाश भी संभव हो सकता है। इसलिए सांख्य का मत है कि आत्मा असङ्ग है, उपाधि के संयोग से विपर्यय ज्ञान के कारण बन्धन में दीखता है। उसके असङ्ग स्वरूप का अनुभव कर लेना ही मुक्ति है।

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति।।
एवं तत्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्य परिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं विवेक मुत्पद्यते ज्ञानम्।।

—सांख्यकारिका ६२, ६४

—"इसलिए न कोई बँधता है, न मुक्त होता है और न ही जन्म-मरण में घूमता है। नाना आश्रयवाली प्रकृति ही बँधती, मुक्त होती और चलती-फिरती रहती है। इस प्रकार तत्वों के अभ्यास से-'मैं यह तत्व नहीं हूँ, यह मेरा नहीं है, इन सब तत्त्वों से पृथक् बचा हुआ तत्त्व ही मैं हूँ'—ऐसे विपर्यय रहित विशुद्ध कैवल्य ज्ञान का उदय होता है।"

योग का मत भी सांख्य के मतानुसार ही है, परन्तु वह आत्मा के स्वरूप को पहचानने के लिए अष्टाङ्ग योग का साधन बताता है। उसका कहना है कि आत्मा को प्रकृति से असङ्ग समझने मात्र से विपर्यय ज्ञान नहीं हटता। प्रकृति की उपाधि से उत्पन्न इस विपर्यय ज्ञान को दूर करने

के लिए धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा अभ्यासपूर्वक प्रकृति-पुरुष की भिन्नता का अनुभव करना अनिवार्य है और योगानुष्ठान से चित्त की मल-विक्षेप रूपी अशुद्धि के क्षय होने पर ज्ञान की दीप्ति उदय होती है।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धि क्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।

—योगदर्शन २, २८

अर्थात् योग के अङ्गों का अनुष्ठान करने से अशुद्धि के क्षय होने पर विवेकख्याति पर्यन्त ज्ञान की दीप्ति होती है।

विवेकख्याति का अर्थ आत्मसाक्षात्कार है जिस में सत्व और पुरुष दोनों की अन्यता का ज्ञान होता है। जब उसका अविरल प्रवाह रहने लगता है तभी अविद्या का नाश होता है।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। —योगदर्शन २, २६

योगदर्शन भी सांख्य की तरह आत्मा को नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव मानता है और बन्धन का कारण अविद्या को समझता है—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।

—योगदर्शन २, २०

अर्थातृ द्रष्टा देखने की शक्ति मात्र वाला और शुद्ध है, तो भी बुद्धि के आधार से देखता है।

वेदान्त भी सांख्य की तरह आत्मा को नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव मानता है। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि की उपाधि ही बन्धन का कारण है और यह आत्मा ब्रह्म ही है, अन्य नहीं। सांख्य ब्रह्म के बारे में कुछ नहीं कहता क्योंकि ब्रह्म की जिज्ञासा उसके क्षेत्र के बाहर का विषय है। आत्मा प्रकृति का अङ्ग नहीं है, उसको प्रकृति कभी नहीं बाँध सकती, वह सदा असङ्ग है। जड़ प्रकृति चेतन आत्मा को कैसे बाँध सकती है ? 'आत्मा स्वयं ही उपाधि के योग से विपर्यय ज्ञान द्वारा बन्धन मान बैठता है और जब वह इस गलती को जान लेता है, तभी वह मुक्त है,'—यह वेदान्त का मत है। सांख्य मोक्ष के लिए इस विवाद में पड़ना आवश्यक नहीं समझता कि जड़ प्रकृति का आधार ब्रह्म है। पर वेदान्त इतने से सन्तुष्ट नहीं होता, जड़ अव्यक्त से सृष्टि का उदय होना उसकी समझ में नहीं आता और सांख्य के नीचे दिये सिद्धान्त को वह युक्तियुक्त नहीं समझता—

प्रधानं स्थित्यैव वर्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात्,
तथागत्यैव वर्तमानं विकार नित्यत्वाद प्रधानं स्यात्।
उभयथाचास्य प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नान्यथा,
कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेष समानश्चर्थः।।

—पञ्चशिखाचार्य

—"यदि प्रधान (अव्यक्त मूल प्रकृति) का स्थिति में ही वर्तमान रहना माना जाय तो विकार का कारण न होने के कारण वह प्रधान नहीं रहता और इसी तरह यदि गति में ही वर्तमान माना जाय तो नित्य विकारयुक्त होने से वह प्रधान नहीं रहता। उभय प्रकार की प्रवृत्ति होने से ही वह प्रधान का व्यवहार कर सकता है, अन्यथा नहीं। यदि प्रधान के सिवाय किसी दूसरे कारण की कल्पना की जाय तो उसका भी इसी के समान व्यवहार होगा।"

अर्थात् 'जड़ प्रधान में स्वभाव से स्थिति और गति युगपद् रहती है'—यह सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं हो सकता, इसलिए सृष्टि का कारण कोई चेतन सत्ता होनी चाहिए, अचेतन नहीं।

'तद्धीनत्वादर्थवत्' (ब्रह्मसूत्र १, ३, ४) के भाष्य में श्रीमच्छङ्कराचार्य कहते हैं—'यदि हम जगत् का कारण उसकी कोई स्वतन्त्र प्रागवस्था मानें तो हमको सांख्य के अव्यक्त अथवा प्रधान कारणवाद का मानने वाला कहे जाने का प्रसङ्ग हो सकता है। परन्तु हम तो परमेश्वर के आधीन जगत् की प्रागवस्था मानते हैं, स्वतन्त्र नहीं। और वह प्रागवस्था अवश्य माननी पड़ेगी क्योंकि वह अर्थवती अर्थात् अपनी सत्ता रखती है। उसके बिना तो परमेश्वर का सृष्टि का कर्ता होना ही सिद्ध नहीं होता क्योंकि फिर शक्तिरहित होने से उसमें प्रवृत्ति नहीं कही जा सकती। अविद्यात्मिका ही अव्यक्त शब्द वाच्या बीज शक्ति है, वह परमेश्वर के आश्रित रहने वाली मायामयी महासुप्ति अवस्था है जिसमें संसारी जीव अपने स्वरूप के ज्ञान से रहित होकर सोते रहते हैं।'

विज्ञानभिक्षु ने भी कहा है—

नामरूप विनिर्मुक्तं यस्मिन्संतिष्ठते जगत्।
तमाहुः प्रकृति केचिन्माया मन्ये ऽपरेत्वणून्।।

—"नाम-रूप को त्यागकर जिस अवस्था में जगत् की स्थिति रहती है, उसे कोई प्रकृति, कोई माया और कोई अणु कहते हैं।"

परन्तु वेदान्त उसको चेतन सत्ता के आश्रित मानता है, दूसरे उसको स्वतन्त्र सत्ता वाली कहते हैं। योगदर्शन ईश्वर को तो मानता है, परन्तु उसको वेदान्त की तरह जगत् का कारण नहीं कहता। वह यह भी नहीं कहता कि ईश्वर जगत् का कारण नहीं है, वह तो इस विषय पर मौन है। सांख्य तो ईश्वर के बारे में कुछ कहता ही नहीं और योगदर्शन ईश्वर को मानकर भी उसके सृष्टि का कारण होने अथवा न होने के बारे में मौन है। वास्तविकता यह है कि सांख्य और योग दोनों आत्मा को शुद्ध-असङ्ग-साक्षीस्वरूप सिद्ध करके और प्रकृति अथवा दृश्य की उपाधि को बन्धन का कारण बताकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानने के साधनों मात्र का उपदेश करते हैं। 'जगत् का कारण ईश्वर है या नहीं ?' इस जिज्ञासा को अपना विषय न समझकर वे इस पर मौन हैं।

योगदर्शन ईश्वर को मानता तो अवश्य है, परन्तु केवल इसलिए कि ईश्वर-प्रणिधान से योग-साधन में सिद्धि मिलती है और विघ्नों का नाश होता है। उसका ध्येय स्वरूपस्थिति है और स्वरूपस्थिति के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की आवश्यकता होती है। इनमें प्रथम पाँच बहिरङ्ग साधन और अन्तिम तीन अन्तरङ्ग साधन कहलाते हैं। समाधि की सिद्धि के लिए ईश्वर-प्रणिधानयुक्त यम, नियम अनिवार्य है।

समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्। —योगदर्शन २, ४५

योगदर्शन में चित्त की वृत्तियों के निरोधपूर्वक क्लेशों को तनु करके आत्मसाक्षात्कार करने में जो विघ्न-बाधाएँ आती हैं, उन सब पर जय प्राप्त करते हुए समाधि की सिद्धि होने पर्यन्त ही ईश्वर की आवश्यकता है अर्थात् योग-साधन में ईश्वर-शरणागति के बिना प्रगति कदापि नहीं हो सकती। इसीलिए उसे सेश्वर सांख्य कहा जाता है।

साधन के सोपानक्रम की दृष्टि से सांख्य, योग और वेदान्त में कोई विरोध नहीं पड़ता। पहले सामान्य दृष्टि में प्रधानता से रहने वाली जड़-चेतन की विभाग-रेखा का विवेचन बताने का कार्य सांख्य का है। सांख्य के 'असङ्गोऽयमात्मा' सिद्धान्त को स्वीकार करके योगदर्शन ईश्वर की ओर निर्देश करता है और आत्मा के असङ्ग स्वरूप का अनुभव

करने के लिए ईश्वर-प्रणिधान की उपयोगिता दिखाता है। ये दोनों शास्त्र सामान्य बुद्धि वाले साधकों के लिए हैं। परन्तु विशेष गहराइयों में जाने के लिए वेदान्त की आवश्यकता होती है, इसलिए उस ज्ञान को वेद अर्थात् ज्ञान का अन्त कहा गया है। वेदान्त के बिना दोनों शास्त्र अपूर्ण रहते हैं।

सांख्य तो प्रकृति और पुरुष का विवेचन करके ईश्वर अथवा ब्रह्मतत्व का नाम भी नहीं बताता। योग ईश्वर का नाम तो बताता है, पर उसका सृष्टि से कुछ सम्बन्ध नहीं दिखाता। उसका ईश्वर तो योगियों का गुरु मात्र है। अब बुद्धिमानों में अनेक शङ्काएँ उत्पन्न होती हैं, जैसे—'प्रकृति ईश्वर से स्वतन्त्र है या उसके परतन्त्र ? यदि परतन्त्र है तो ईश्वर का उससे किस प्रकार का सम्बन्ध है ? यदि कारण-कार्य का सम्बन्ध है तो ईश्वर उसका उपादान कारण है या निमित्त कारण है ?'

जीव के बन्धन के कारण उसके शुभाशुभ कर्म हैं। योग यह नहीं बताता कि जीव पर यह कर्म किस प्रकार आ चिपकते हैं ? जीव का ईश्वर से क्या सम्बन्ध है? यदि सम्बन्ध है तो सजातीय सम्बन्ध है अथवा विजातीय ? इन अनेक प्रकार के प्रश्नों का समाधान वेदान्त करता है और सांख्य और योगदर्शन के पठन से जो बेसमझियाँ या भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उनका निराकरण करता है। सांख्य के विवेचन और योग के साधन-क्रम से वेदान्त का किञ्चित् भी मतभेद नहीं है। इतना ही नहीं, वह उनको मान्यता देकर उनका एवं उनकी उपयोगिता का समर्थन करता है।

तात्पर्य यह है कि श्रुति-अनुकूल ब्रह्मात्मैक्य सिद्धान्त को मानने वाले और अव्यक्त प्रकृति की सत्ता को ईश्वराधीन उसका कार्य मानने वाले सिद्धान्तों के अनुकूल सांख्य और योग वेदान्त को भी मान्य हैं। वह केवल उनके श्रुतिविरुद्ध द्वैतवाद या प्रधानकारणवाद वाले वचनों से उत्पन्न होने वाली नासमझी का स्पष्टीकरण करता है। क्योंकि वेदविरुद्ध द्वैतवादयुक्त सांख्य और योग से श्रेयस् की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए वेदान्त एक पग और आगे बढ़ता है और कहता है—"इस जगत् की सृष्टि, स्थिति, संहार का कारण ब्रह्म है, सांख्य का अव्यक्त प्रधान मात्र नहीं है। ब्रह्म उसका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है और 'असङ्गोऽयं आत्मा' स्वय ब्रह्म ही है।"

✧ ✧ ✧

त्रयोदश विकास

अहंग्रह उपासना

अनात्म चिन्तनं त्यक्त्वा कश्मलं दुःखकारणम्।
चिन्तयात्मानमानन्दरूपं यन्मुक्तिकारणम्।।

अहंग्रह उपासना को दो अङ्गों में विभाजित किया जा सकता है— (१) 'अहम्' भाव की आत्मा में स्थिति और (२) अध्यास को कम करना। पहले—'अध्यास क्या है ?'—यह समझना आवश्यक है। अध्यास मिथ्याज्ञानस्वरूप है, कर्तृत्व, भोक्तृत्व अभिमान का प्रवर्तक है। शुद्ध चेतनस्वरूप आत्मा में अनात्म देहादि के धर्मों का अध्यारोपण होना अध्यास कहलाता है। यह अध्यास आत्म और अनात्म का, जो परस्पर विरुद्ध धर्म वाले हैं, एक का दूसरे के भाव को प्राप्त होकर उसके धर्मों को अपने ऊपर अध्यारोपित कर लेना है, जैसे—स्फटिक और निकट में रखी हुई वस्तु। स्फटिक का उस वस्तु के रंग से रंगा हुआ प्रतीत होना अध्यास कहलाता है। अध्यास स्मृति का ऐसा धर्म है जिससे पहले देखी हुई वस्तु और उसके धर्मों का आभास अन्यत्र होने लगता है।

देह में आत्मबुद्धि और आत्मा में देहाभिमान, कर्तृत्वाभिमान, भोक्तृत्वाभिमान होना अध्यास का परिणाम है। यह जड़ और चेतन की मिथ्या ग्रन्थि है जो खोली नहीं जा पा रही। तुलसीदास जी के शब्दों में—

'जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।।'

इस ग्रन्थि का स्वरूप 'अहम्' है। योगदर्शन इसको इस प्रकार समझाता है :—

—योगदर्शन २, ६

दृग्दर्शन शक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।

दृक् अर्थात् चेतन आत्मा को देखने वाली शक्ति और देखने की

शक्ति अर्थात् बुद्धि—दोनों की एकात्मता-सी हो जाती है, इसी को 'मैं हूँ' का भाव कहते हैं। यद्यपि दोनों की एकात्मता होती नहीं, परन्तु एकात्मता-सी प्रतीत मात्र होती है। इस तादात्म्यभाव से 'अहं' की वृत्ति उदय होती है। श्रीभगवान् ने गीता में आत्म-अनात्म का विभाग दिखाने के लिए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का निरूपण किया है। क्षेत्र—५ महाभूत, अङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, ११ इन्द्रियों और ५ विषयों अर्थात् सांख्य के २४ तत्त्वों और इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख के संघात, चेतना और धृति जो अन्तःकरण के धर्म हैं परन्तु जिनको वैशेषिक मतावलम्बी आत्मा के ही धर्म कहते हैं,—इन सबका बना हुआ कहा है।

आत्मा इस क्षेत्र से भिन्न है। क्षेत्र उसके ज्ञान का विषय है अर्थात् 'आपादतल मस्तक' पैरों के तलुओं से मस्तक तक का ज्ञान उसको होता है, इसलिए उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं। ज्ञान की इस वृत्ति का ही नाम 'अहङ्कार' है। 'अहम्' का यह अनात्माध्यास तीन प्रकार कहा जा सकता है—(१) देहाध्यास, (२) कर्तृत्वाध्यास, (३) भोक्तृत्वाध्यास अर्थात् कर्तापन और भोक्तापन का अध्यास, जैसे—मैं देह हूँ, मैं काला हूँ, गोरा हूँ, दुर्बल हूँ, मोटा हूँ, रोगी हूँ, स्वस्थ हूँ,—यह अनेक प्रकार का देहाध्यास है। 'मैं अच्छे बुरे कर्म करता हूँ और उनके फल भोगता हूँ'—ये कर्तृत्व और भोक्तृत्व अध्यास हैं जो सूक्ष्म शरीर के धर्म हैं। आत्मा प्रकृति के सङ्घातरूपी गुणों को उनमें आसक्त रहने के कारण भोगता है, क्योंकि प्रकृतिस्थ पुरुष को अविद्या के कारण क्षेत्र में आत्मख्याति बनी हुई है। इसी को मोह भी कहते हैं।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।

—गीता १३, २१

इस अध्यासरूपी मोह के त्याग को अहंग्रह उपासना का निषेधात्मक साधन समझना चाहिए अर्थात्—'मैं अनात्म तत्त्वों का सङ्घात नहीं हूँ और न उनके धर्म मुझमें हो सकते हैं। फिर मैं क्या हूँ? आत्मा, सब का साक्षी, निर्लिप्त, शुद्ध ज्ञानस्वरूप जिसके कारण देहादि में 'अहम्' की वृत्ति जागृत हो रही है, वही शिवस्वरूप ब्रह्मैवाहमस्मि।'

न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायु,
नं खं नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः।
अनैकांतिकत्वात्सुषुत्यैक सिद्ध,
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्।।

इसलिए अहंग्रह उपासना का दूसरा अङ्ग आत्मस्थिति है। वास्तव में आत्मस्थित होकर आत्मचिन्तन करना ही अहंग्रह उपासना है।

देहादि में स्थिति रखने को मोह कहते हैं और आत्म-स्थिति से च्युत होने को प्रमाद कहते हैं।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।।

—कठोपनिषद् ६, १०-११

—"जब मन सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि चेष्टा नहीं करती, उस अवस्था को परम गति कहते हैं। इन्द्रियों की इसी स्थिर धारणा को योग कहते हैं। तब ही मनुष्य प्रमाद रहित होता है क्योंकि प्रभव और अप्यय दोनों का नाम योग है।"

जब 'अहम्' की वृत्ति का व्युत्थान अर्थात् उदय होता है तो इस अवस्था को प्रभव कहते हैं और जब उसका विलय हो जाता है तो उस अवस्था को अप्यय कहते हैं। दोनो अवस्थाओं के उदय-अस्त होते रहने को योग कहते हैं। प्रभव के समय 'अहम्' की वृत्ति को पकड़कर आत्मस्थिति रखने को 'अहंग्रह उपासना' कहते हैं। यह 'अहम्' वृत्ति अति सूक्ष्म होती है जिसमें देह, कर्तृत्व और भौक्तृत्व तीनों ही प्रकार की अहं बुद्धि नहीं रहती। इस केवल अहम् बुद्धि पर धारणा, ध्यान, समाधि होने से ही आत्मज्ञान का लाभ होता है, अन्यथा नहीं।

अहंग्रह का अर्थ अहम् की वृत्ति को पकड़ना है और अहम् का

विषय आत्मा है, क्षेत्र नहीं है, यद्यपि वह उत्पन्न क्षेत्र के संयोग से ही होता है। आत्मा कभी क्षेत्र नहीं बनता, न क्षेत्र आत्मा या पुरुष ही बनता है। दोनों विपरीतधर्मी हैं, परन्तु दोनों की परस्पर तादात्म्यता इतनी दृढ़ हो रही है कि दोनों एकाकार-से दीखने लगे हैं। 'मैं' का विषय विशुद्ध पुरुष है, प्रकृति का कोई अङ्ग नहीं, इसलिए स्थिर, समाहित, सूक्ष्म बुद्धि द्वारा देहादि में अहं की वृत्ति कम होते-होते अपने उद्गम स्थान आत्मा में स्थिति रखने लगती है।

योगदर्शन ने सांख्य के २४ तत्त्वों को चार श्रेणियों में विभक्त किया है। उनके नाम ये हैं :— विशिष्ट लिङ्ग, अविशिष्ट लिङ्ग, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग। ५ महाभूत विशिष्ट लिङ्ग हैं। ५ तन्मात्राएँ, १० इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहङ्कार अविशिष्ट लिङ्ग कहलाते हैं। महत्तत्व लिङ्गमात्र है और अव्यक्त को अलिङ्ग कहते हैं। इनमें से जिस-जिस पर ध्यान करने वाली अथवा ध्यातापन की अहं बुद्धि केन्द्रित की जाती है, वह उसी से तादात्म्य कर लेती है।

यदि ध्येय का विषय स्वयं 'अहं' होता है तो चित्त की वृत्ति अहं के साथ उसके उदय होने के स्थान आत्मस्वरूप की ओर केन्द्रित होने से आत्मज्ञान का साधन बन जाती है। अहं की वृत्ति बुद्धिस्थित आत्मा से उदय होती है और बुद्धिस्थित आत्मा ही ध्याता कहलाता है। केवल शुद्ध स्वरूप आत्मा में अहं अथवा ध्याता का भाव होना असम्भव है, इसलिए क्रमशः विशिष्ट लिङ्ग (स्थूल देह) एवं अविशिष्ट लिङ्ग (सूक्ष्म बाह्य और अन्तःकरणों) की अहम् वृत्ति के शान्त होने पर जो शुद्ध वृत्ति बची रहती है, उसी पर स्थिति रखकर अभ्यास करने से बुद्धि में स्थित पुरुष को आत्मज्ञान होता है।

योगदर्शन के सूत्र ३, ३५ पर व्यास भगवान् अपने भाष्य में कहते हैं कि पुरुष के आधारयुक्त बुद्धि को पुरुष का ज्ञान नहीं होता, पुरुष स्वयं ही अपने प्रतिबिम्ब के अवलम्बनयुक्त उस ज्ञान को देखता है। जब ध्यान करने की शक्ति पुरुष को अपना ध्येय बनाकर स्थिरतापूर्वक अपने ऊपर ही संयम करती है, तब उसमें पुरुष-विषयी प्रज्ञा उत्पन्न होती है।

तब तत्वनिष्ठ पुरुष ही बुद्धि में अपने प्रतिबिम्ब को देखता है। पुरुष ज्ञान का विषय नहीं होता, वह स्वयं ज्ञाता है। बुद्धि जड़ है, वह आत्मा को प्रकाशित नहीं कर सकती, स्वयं आत्मा से चेतनवत् भासती है। बुद्धि में आत्मारूपी बिम्ब के प्रतिबिम्ब का आलम्बन होता है जिसको पुरुष स्वयं देखता है। इसलिए वह पुरुष ज्ञाता रूप से बुद्धि में तादात्म्ययुक्त त्रिपुटी सहित ध्यान करता है, अपने ही सूक्ष्म रूप को,—जो अहङ्कार की वृत्ति का अभाव होने पर चितिमात्र की झलकवत् दीखता है,—देखता है और अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है जो बुद्धि से पृथक भासित होता है। इस ज्ञान को योगदर्शन में सत्वपुरुष दोनों की अन्यता-ख्याति कहा है। शुद्ध कूटस्थ आत्मा में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिपुटी-वृत्ति नहीं रहती क्योंकि वृत्ति का होना बुद्धि का धर्म है। कहा है—

यथादर्शे तथात्मनि। —कठोपनिषद्, ६, ५

अर्थात् जैसे आदर्श (आइने) में प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है, वैसे ही रजोगुण और तमोगुण से शुद्ध होने पर निर्मल आइने के सदृश बुद्धि में आत्मतत्व स्पष्ट दीखने लगता है, परन्तु—

न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चाक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषी मनसाऽभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति

अर्थात उसके दीखने के समय कोई रूप नहीं होता, उसको किसी ने आँखों से नहीं देखा, बुद्धिमान् मनुष्य को हृदय और मन से जान पड़ता है। जो उसको जान लेते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं।

✧ ✧ ✧

चतुर्दश विकास

निदिध्यासन

नित्याभ्यासादृते प्राप्तिर्न भवेत्सच्चिदात्मनः।
तस्माद्ब्रह्म निदिध्यासेज्जिज्ञासुः श्रेयसे चिरम्।।

—अपरोक्षानुभूति १०१

"नित्य अभ्यास के बिना सत्-चित् आत्मा की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए जिज्ञासु को मोक्ष के लिए चिरकाल तक ब्रह्म का निदिध्यासन करना चाहिए।"

प्रायः शङ्का की जाती है कि मोक्ष के लिए योग-उपासना आवश्यक नहीं है। ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होती और ज्ञान को इनकी अपेक्षा नहीं है। जीव-ब्रह्मैक्य ज्ञान को ज्ञान कहते हैं, इसलिए यह समझ लेना ही मोक्ष-प्राप्ति के लिए पर्याप्त है कि जीव ब्रह्म है। क्या 'मैं ब्रह्म हूँ' इस विचार की दृढ़ता ही ज्ञान नहीं है? योग और उपासना क्रियात्मक हैं, परन्तु ज्ञान क्रियात्मक नहीं है। किसी विपरीत भावना को दूर करके ठीक समझ लेने मात्र को ज्ञान कहते हैं। ब्रह्म को जानना, ब्रह्म को प्राप्त करना और ब्रह्म बनना इत्यादि उक्तियों से यह भाव झलकता है कि जीव ब्रह्म से भिन्न है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। जीव ब्रह्म ही है, इसलिए यह समझ लेना ही ब्रह्म को जान लेना, उसको प्राप्त करना अथवा स्वयं ब्रह्म बन जाना है।

अब प्रश्न यह है कि क्या ऐसा ज्ञान होने के लिए वेदान्त का प्रवचन सुनना ही काफी है? क्या श्रवण मात्र से जीव-ब्रह्म भेद-भावना दूर हो जाती है?

श्रुतियों का कहना है—'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया, न बहुना श्रुतेन'—यह आत्मा प्रवचन से नहीं मिलता, न मेधा बुद्धि द्वारा

और न ही बहुत श्रवण से मिलता है। और—'शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः'—बहुत से लोगों ने श्रवण करके भी उसको नहीं जाना। इसलिए श्रवण करके मनन करना चाहिए, उस सिद्धान्त को युक्ति-तर्क द्वारा समझ कर हृदयङ्गम करना चाहिए। साथ ही श्रुति यह चेतावनी भी देती है कि 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' ऐसी (ब्रह्ममयी) बुद्धि तर्क से उत्पन्न नहीं होती। 'आत्मा वारे दृष्टव्यः, श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यः'—अरे, आत्मा को देखना चाहिए, उसके बारे में श्रवण करना चाहिए, विचार करना चाहिए और उस पर निदिध्यासन करना चाहिए।

प्रायः देखा जाता है कि निदिध्यासन तो विरले ही करते हैं, सारी उमर श्रवण-मनन में ही गुजर जाती है और हाथ-पल्ले कुछ नहीं पड़ता। उनका मन सङ्कल्प-विकल्पों का त्याग करना तक तो सीखता ही नहीं। बहुत से लोग तो मनन करना भी नहीं जानते, श्रवण मात्र से ही ब्रह्मज्ञानी बन बैठते हैं। 'निदिध्यासन का क्या स्वरूप है?' यह न तो उनको मालूम होता है, न इसका अनुभव करने की उनमें क्षमता होती है क्योंकि निदिध्यासन योग का ही अङ्ग है और इसको करने की योग्यता योग-उपासना का चिरकालीन दृढ़ अभ्यास करने से स्वयं उदय होती है। निदिध्यासन के लिए सङ्कल्प-विकल्पों का उदयास्त होना बन्द हो जाना चाहिए।

चित्त की समाहित अवस्था निदिध्यासन की प्रथम भूमिका है, तभी ब्रह्ममयीवृत्ति में चित्त की स्थिति होती है। 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस विचार की दृढ़ता को ब्राह्मी स्थिति नहीं कहते, स्थितप्रज्ञ होना ही ब्राह्मी स्थिति है। 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसा सोचना जीव-ब्रह्मैक्य का उदय होना नहीं है। पहली समाहित चित्त की एक ऊँची भूमिका है और दूसरी मन के सङ्कल्प की एक वृत्ति मात्र है। पहले अपने आत्मा को स्थूल, सूक्ष्म, कारण देहों अथवा अन्नमयादि पाँचों कोषों से पृथक् शुद्ध-बुद्ध- असङ्ग समझकर, अनुभव द्वारा अपरोक्ष करके, तदनन्तर ही अनुभव हो सकेगा—'अयमात्मा ब्रह्म' यह आत्मा ब्रह्म है, ब्रह्म अन्य तत्त्व नहीं है। तब निरन्तर दृढ़ अभ्यास द्वारा जागते-सोते उस आत्मस्थिति में अटूट धारा-प्रवाह से चित्त की स्वाभाविक वृत्ति लगी रहने लगती है। यह सब सांख्य और योग का साधन कहलाता है।

भक्ति, उपासना, कर्मयोग एवं राजयोग सब साधनों का फल आत्मस्थिति का उदय होना है। भगवान् कहते हैं—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते। —गीता

तब महा वाक्यों के अर्थ पर निदिध्यासन करने की योग्यता आती है। श्रीमच्छङ्कर भगवत्पाद ने निदिध्यासन का अर्थ योग ही किया है और अपरोक्षानुभूति में उसके १५ अङ्ग बताए हैं—

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः।
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थिति।।
प्राणसंयमनञ्चैव प्रत्याहारश्च धारणा।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात्।।

—अपरोक्षानुभूति १०२, १०३

—"निदिध्यासन के क्रमशः ये अङ्ग कहे जाते हैं :—यम, नियम, त्याग, मौन, देश और काल की अनुकूलता, आसन, मूलबन्ध, देह की साम्य अवस्था, दृष्टि की स्थिरता, प्राणों का संयम, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि।"

एभिरंगैः समायुक्तो राजयोग उदाहृतः।
किञ्चित पक्वकषायाणां हठयोगेन संयुतः।।
परिपक्वं मनो येषां केवलोऽयं च सिद्धिदः।
गुरुदैवतभक्तानां सर्वेषां सुलभो जनात्।।

—अपरोक्षानुभूति १४३, १४४

—"इन अङ्गों से युक्त राजयोग कहा गया है। जिनके कषाय किञ्चित् पके हैं, उनके लिए हठयोग भी संयुक्त कर दिया गया है, परन्तु जिनका मन परिपक्व हो गया है, उनको यह अकेला ही सिद्धि दे सकता है। गुरु और ईश्वर के सब भक्तों को यह शीघ्र सुलभ होता है।"

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधियुक्त अष्टाङ्ग योग का फल योगदर्शन ने विवेक-ख्याति अर्थात् आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त ज्ञान की दीप्ति होना कहा है और प्रणव के जप का फल भी प्रत्यक्-चेतनाधिगम और अन्तरायों का अभाव बताया है। ये दोनों फल एक ही हैं। प्रत्यक् चेतनाधिगम और विवेकख्याति दोनों पर्यायवाची पद हैं। ईश्वर-प्रणिधान का फल समाधि की सिद्धि भी यही है। इसलिए अद्वैतवादी का ब्रह्मात्मैक्यज्ञान, ब्राह्मीस्थिति और आत्मस्थिति उसी एक अवस्था के द्योतक हैं जिसको योग विवेकख्याति अथवा

प्रत्यक्-चेतनाधिगम कहता है, परन्तु द्वैतवादी के लिए ऐसा नहीं है।

''जब तक ब्रह्म और आत्मा की भेद-बुद्धि बनी रहती है, समाधि कैवल्य मोक्ष नहीं दे सकती।''—यह उपनिषदों का सिद्धान्त है। इसलिए कहा है—'ज्ञानादृते न मुक्तिः,'—तदर्थ श्रवण, मनन और निदिध्यासन की आवश्यकता बनी रहती है। आत्मस्थिति को ब्राह्मीस्थिति समझे बिना अथवा सर्वव्यापी ईश्वर को अपना शुद्ध अन्तरात्मा जाने बिना सायुज्य मोक्ष नहीं होती, ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो सकती है।

राजयोग के उपरोक्त १५ अङ्गों में योगदर्शन के आठ अङ्ग भी सम्मिलित हैं, परन्तु उनकी परिभाषा भगवत्पाद ने अपने ही ढङ्ग से की है और यह बात स्पष्ट कर दी है कि जिनके कषाय पके नहीं हैं, उनके लिए ये परिभाषाएँ ऊँचे स्तर की और कष्टसाध्य होंगी। उनके लिए तो पूर्व-साधन काल में पातञ्जलदर्शनोक्त परिभाषाएँ ही उपयुक्त होंगी। कषाय परिपक्व होने पर ही अपरोक्षानुभूति में कहे हुए ब्रह्मभावना को दृढ़ करने वाले साधनों का आचरण करना लाभप्रद होगा।

कषाय किसको कहते हैं और उसकी परिपक्वावस्था से क्या अभिप्राय है? यह भी समझना आवश्यक है, इसलिए पहले कषायों पर विचार किया जाता है। कषाय का अर्थ मलिनता है। जैसा कि पहले कह आये हैं, चित्त में तामसिक और राजसिक दो प्रकार की मलिनता होती है जिसको मल, विक्षेप भी कहते हैं। तमोगुण से मलीन बुद्धि में मोह, अकर्मण्यता, प्रमाद, आलस्य, जड़ता, भय, निद्रा, भ्रान्ति आदि दोष होते हैं जो स्थूल तमोगुण के अन्धतम रूप हैं। परन्तु रजोगुण मिश्रित तमोगुण से संशय, सन्देह, अनीश्वरता और विपर्यय ज्ञान का कारण देहात्मबुद्धि उत्पन्न होते हैं।

चिन्ता, शोक, काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, ईर्ष्या, मद, मत्सर, अहङ्कार आदि चित्त में विक्षेप उत्पन्न करने वाले दोष रजोगुण के हैं। इनके वेग से चित्त अशान्त, दुखी, चञ्चल एवं व्यग्र रहता है और इनका वेग कम होने पर तमोगुण को सहायता मिलती है। ये रजोगुण के घोर रूप हैं। सत्त्व-मिश्रित रजोगुण से कर्म करने में प्रवृति, उत्साह, यश-कीर्ति कमाने की लालसा तरंगे मारने लगती है। ये सभी मन को मूढ़ और क्षुब्ध रखने वाले विकार हैं। कषायों को दबाने के लिए यम-नियमादि के पालन और श्रद्धा, भक्ति आदि दैवी सम्पत्तियों के संग्रह से सत्त्वगुण की वृद्धि

करनी चाहिए। सत्त्व गुण के शुद्ध होने पर मनःप्रसाद, सौम्यता, शान्ति, आनन्द का उदय होता है और चित्त की आत्मस्थितिस्वरूप समाहितावस्था आती है।

काम-क्रोधादि तनु और क्षीण हो जाए, उनका वेग यदि कभी-कभी आ भी जाए तो पहले की अपेक्षा बहुत हलका और चित्त में क्षोभ पैदा न करने वाला हो, विषयों की आसक्ति शिथिल पड़ जाए, वासनाएँ क्षीण हो जाए तथा मन मृत्यु के भय से मुक्त होकर बलवान हो जाए, तब जानना चाहिए कि कषाय पक गये हैं, निर्द्वन्द्वता की मस्ती ने मोक्ष का मार्ग साफ कर दिया है और अब केवल अज्ञान का आवरण हटाना मात्र शेष रह गया है जिसके लिए ब्रह्मभावनायुक्त ज्ञान का आश्रय लेने का समय आ गया है।

यम-नियम

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (विषयों का त्याग) यम कहलाते हैं। ये पाँच सार्वभौम धर्म हैं अर्थात् हर युग में, हर समय, सब जातियों और सब वर्णों को एक समान माननीय हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान नियम कहलाते हैं। श्रीमच्छङ्कराचार्य ने पक्वकषाय साधकों के लिए यम-नियम का साधन-क्रम नीचे दिये श्लोकों में कहा है :

सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्राम संयमः।
यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः।।
सजातीय प्रवाहश्च विजातीय तिरस्कृतिः।
नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः।।

—अपरोक्षानुभूति १०४, १०५

—"सर्वं ब्रह्म—ऐसा अनुभव करने से इन्द्रियों का संयम हो जाता है, इसलिए इसको ही यम कहा गया है। इस ब्रह्मभावना का बार-बार अभ्यास करना चाहिए। ब्राह्मी वृत्ति के सजातीय प्रवाह की वृद्धि और अन्य विजातीय वृत्तियों के प्रवाह का तिरस्कार नियम कहलाता है जो परमानन्द का देने वाला है। बुद्धिमानों को नियम से इसका अभ्यास करना चाहिए।"

यही वास्तविक ईश्वर-प्रणिधान है।

'सर्वम् खल्विदं ब्रह्म' की भावना रखने वाला मनुष्य हिंसा और असत्य का व्यवहार किससे, क्यों करेगा, किसी के धन का अपहरण क्यों करेगा, क्यों ब्रह्मचर्य के नियमों का उल्लङ्घन अथवा विषयों का संग्रह करेगा ? जब आत्मा में वृत्ति की अटूट समस्थिति बनी रहने लगेगी, तब वह सदा ही 'बाह्याभ्यन्तरः शुचिः' रहेगा। कहा है—'यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं सः बाह्याभ्यन्तरः शुचिः'—क्योंकि आत्मा सदा शुद्ध है और शरीर सदा अशुद्ध है। शरीर-शौच तो बाह्य सफाई मात्र है। ऐसे मनुष्य का सन्तोष भी अखण्ड रहना चाहिए, क्योंकि आत्मतुष्टि ही सबसे बड़ा सन्तोष और आत्मरति ही सबसे बड़ा तप है। आत्मचिन्तन ही स्वाध्याय है और आत्मस्थिति ही वास्तविक ईश्वर-प्रणिधान है।

त्याग

त्यागः प्रपञ्चरूपस्य चिदात्मत्वावलोकनात्।
त्यागीः हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षमयो यतः।।

—अपरोक्षानुभूति १०६

अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम कहलाते हैं। शौच, संन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान नियम कहलाते हैं।

—"चिदात्मा के अवलोकन अर्थात् आत्म-चिन्तन के कारण संसाररूपी प्रपञ्च का त्याग ही महान पुरुषों का पूज्य त्याग है जो तुरन्त मोक्ष देने वाला होता है। सतत् आत्मचिन्तन द्वारा वृत्ति बाह्य विषयों से हटकर अन्तर्मुखी रहने लगती है।"

गीता में श्री भगवान् ने त्याग की व्याख्या इन शब्दों में की है—

सर्व कर्म-फल त्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणः। —१८,२

सब कर्मों के फल-त्याग को बुद्धिमान त्याग कहते हैं। सदा आत्म-चिन्तन में लगे रहने पर कर्मों के फलों का त्याग स्वतः ही हो जाता है। कहा है—'दुर्लभो विषय त्यागो'—विषयों का त्याग अति दुर्लभ है। आत्मचिन्तन द्वारा ही विषयों की वासना क्षीण होती है, दूसरा मार्ग नहीं है।

मौन

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
यन्मौनं योगभिर्गम्यं तद्भवेत्सर्वदा बुधः।।
गिरा मौनं तु बालानां प्रयुक्तं ब्रह्मवादिभिः।

—अपरोक्षानुभूति १०७, १०६

—"जहाँ से मन सहित वाणी उसे प्राप्त किये बिना लौट आती है और जो योगियों को गम्य है, बुध लोग उसी मौनपद में स्थिति रखने को मौन कहते हैं। ब्रह्मवादीजन गिरा-मौन को तो बालकों का मौन समझते हैं।"

यदि वाणी का मौन रखने पर मन अनेक सङ्कल्प-विकल्पों की उलझन में ही फँसा रहता है तो उस मौन से लाभ की जगह हानि ही होती है, क्योंकि मन बातें करने में लगा रहता है और व्यर्थ के विचारों में व्यस्त रहने से दिमाग थक जाता है। हाँ, यदि मनुष्य विचारशील है तो उसका मौन लाभप्रद हो सकता है, परन्तु सर्वथा मौन की अवस्था समाधि ही कही जा सकती है। कहा है—

नह्यसंन्यस्त सङ्कल्पो योगी भवति कश्चन। —गीता

एकान्त देश

आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते।
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः।।

—अपरोक्षानुभूति ११०

—"जिसके आदि, अन्त और मध्य में कहीं भी कोई जन विद्यमान नहीं है और जिससे यह जगत् सदा व्याप्त है, उसी ब्रह्मपद को निर्जन देश समझना चाहिए।"

ब्राह्मीस्थिति में रहना ही एकान्तवास है। जो महान् पुरुष सदा ब्रह्मभाव में रहते हैं, वे सदा सब स्थानों पर जनसमुदाय में विचरते हुए भी एक ब्रह्म का ही अनुभव करते हैं, जहाँ द्वैत कहाँ? इसी प्रकार उस अखण्ड

ब्राह्मीस्थिति में काल का भी क्रम नहीं रहता। ऐसे ब्रह्मस्थित महात्माओं को शुभ स्थान और शुभ मुहूर्त की भी अपेक्षा नहीं रहती, वे सदा सर्वत्र आत्मरमण करते हुए आत्मानन्द में निमग्न रहते हैं। स्थान अथवा समय का कुयोग उनकी समाधि में किसी प्रकार का विघ्न नहीं डाल सकते। किन्तु साधन के पूर्वकाल में ऐसे अच्छे रमणीक, शुद्ध, पवित्र, एकान्त स्थान में रहकर ही अभ्यास करना चाहिए जहाँ पर चित्त की वृत्ति स्वतः ध्यान में जमने लगे और मन साधन से उठने को न चाहे। कहा है—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। —गीता

समे शुचौ शर्करा वह्नि बालुका-
विवर्जिते शब्द जलाश्रयादिभिः।
मनोनुकूले- न तु चक्षु पीडने,
गुहा निवाताश्रयणे प्रयोजयेत्।।

—श्वेताश्वतरोपनिषद् २, १०

—"पवित्र और सम अर्थात् हमवार स्थान पर जहाँ चींटी, बालू और अग्नि का भय न हो, शब्द और जलाश्रयों से मनोनुकूल हो, जो देखने में रमणीक और सुन्दर हो, ग्लानि न आती हो,—ऐसे प्रदेश में किसी गुफादि निवास-स्थान में साधन करना चाहिए जहाँ गरमियों में लू और जाड़ों में तीव्र ठण्डी वायु से रक्षा हो सके।"

आसन

सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।
आसनं तद्विजानीयान्नेतरत्सुखनाशनम्।।

--अपरोक्षानुभूति ११२

—"जिस प्रकार सुखपूर्वक ही निरन्तर ब्रह्मचिन्तन हो सके, उसी को आसन समझो, जिससे सुख का नाश हो उसे नहीं।" जैसा कि कहा है—

'स्थिरं सुखमासनम्।' —योगदर्शन २, ४६

मूलबन्ध

यन्मूलं सर्वभूतानां यन्मूलं चित्तबन्धनम्।
मूलबन्धः सदा सेव्यो योगोऽसौ राजयोगिनाम्।।

—अपरोक्षानुभूति ११४

—"जिससे चित्त का बन्धन होता है और जो सब भूतों का मूल है, वही ब्राह्मी स्थिति राजयोगियों को सदा सेव्य है।"

देह की समता

अङ्गानां समतां विद्यात्समे ब्रह्माणि लीयते।
नो चेन्नैव समानत्वमृजुत्वं शुष्क वृक्षवत्।।

—अपरोक्षानुभूति ११५

—"एकरस ब्रह्म की समता में मन का लय होना ही अङ्गों की समता है, सूखे वृक्ष की तरह अर्थात् ब्रह्म की भावना से रहित अकड़कर बैठना समता नहीं है।"

दृक्-स्थिति

दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद्ब्रह्ममयं जगत्।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी।।
दृष्टृदर्शनदृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत्।
दृष्टिस्तत्रैव कर्तव्या न नासाग्रावलोकिनी।।

—अपरोक्षानुभूति ११६, ११७

—"दृष्टि को ज्ञानमयी करके जगत् को ब्रह्ममय देखे, ऐसी दृष्टि ही परम उत्तम है, नाक के अग्रभाग पर देखने वाली दृष्टि ऊँची नहीं है अथवा जहाँ दृष्टा, दर्शन और दृश्य की त्रिपुटी का लय हो जाए, उसी अवस्था पर दृष्टि रखनी चाहिए, नासाग्र पर नहीं।"

आसन में चार बातों का ध्यान रखना होता है—(१) सिद्ध, पद्म, मुक्त, स्वस्तिकादि बैठकें (२) गुदा का आकुञ्चन करके अपान वायु को ऊर्द्ध्वगामी रखना जिसको मूलबन्ध कहते हैं (३) मेरुदण्ड को सीधा रखना

और (४) दृष्टि को स्थिर रखना। उक्त चारों क्रियाओं से युक्त आसन सिद्धिप्रद होता है, ऐसा हठयोग के आचार्यों का मत है। कहा है—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरं।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।

—गीता ६, १३

अर्थात् शरीर को इस प्रकार सीधा रखकर कि धड़, ग्रीवा और सिर एक सीध में, सम तथा अचल स्थिर रहें, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमा कर इधर-उधर न देखें। श्वेताश्वत्तरोपनिषद् में भी साधन के लिए आसन की विधि इसी प्रकार कही गई है—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।

''धड़, ग्रीवा और सिर तीनों को सम रखकर हृदय में इन्द्रियों और मन को रोक कर..........।''

श्रीमच्छङ्कर भगवत्पाद विरचित योगतारावली में मलबन्ध, उड्यान बन्ध और जालन्धर बन्ध का माहात्म्य इस प्रकार है :—

जालन्धरोड्याणनमूलबन्धान्,
जल्पन्ति कण्ठोदरपायुमूलान।
बन्धत्रयेऽस्मिन् परिचीयमाने,
बन्धः कुतो दारुणकालपाशात्।।
ओड्याणजालन्धरमूलबन्धै-
रुन्निद्रितायमुरगाङ्गनायाम्।
प्रत्यङ् मुखत्वात् प्रविशन् सुषुम्नां,
गमागमौ मुञ्चति गन्धवाहः।।

—योगतारावली ५, ६

—''कण्ठ, उदर और गुदा की सङ्कोचन क्रिया को क्रमशः जालन्धर, उड्यान और मूलबन्ध कहते हैं। इन तीनों बन्धों के जानने वालों को मृत्यु के दारुण पाश का बन्धन कहाँ रह सकता है ? इन तीनों बन्धों के अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति के जागने पर प्राण-अपान (श्वास-निश्वास)

पश्चिम द्वार से सुषुम्ना में प्रवेश करके अपना स्वाभाविक आना-जाना त्याग देते हैं।"

उपरोक्त विधि से आसन पर बैठकर चित्तवृत्तिनिरोध-रूपी योग के अनुष्ठान द्वारा कषाय परिपक्व होने पर योगी को हठ योग के उक्त साधनों की आवश्यकता नहीं रहती। तब उक्त रीति से ब्रह्मभावना को दृढ़ करना चाहिए और ब्राह्मी वृत्ति में चित्त की साम्यावस्था को बढ़ाने का अभ्यास करना चाहिए।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।

—गीता ६, ३

—'जो योगारूढ़ होने की इच्छा करता है, उसका साधन कर्म कहा गया है और जो योगारूढ़ हो गया है, उसका साधन शम (मनोनिग्रह) कहा गया है।'

प्राणायाम

चित्तादि सर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात्।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते।।
निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरणः।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरीरितः।।
ततस्तद्वृत्ति नैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः।
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां घ्राणपीडनम्।।

—अपरोक्षानुभूति ११८, ११६, १२०

—"सब भावों के रहते हुए भी ब्रह्मभावना-युक्त रहकर सब वृत्तियों का निरोध करना प्राणायाम कहलाता है। प्रपञ्च-रूपी समीरण का निषेध अर्थात् लय करना रेचक और 'अहं ब्रह्मास्मि' की वृत्ति बनाए रखना पूरक है। फिर इसी वृत्ति की निश्चल स्थिरता कुम्भक है। यह प्रबुद्ध ज्ञानियों का प्राणायाम है, अज्ञानियों का प्राणायाम घ्राणपीड़न (श्वास-प्रश्वास के रोकने) से होता है।"

प्राणायाम का अर्थ प्राण का संयम है। प्राण तत्त्व क्या है, यह पहले एक विकास में बता आये हैं। श्वास-प्रश्वास की क्रिया उसकी स्थूल क्रिया है। मन की सङ्कल्प-विकल्पात्मिका क्रिया भी प्राण की ही एक सूक्ष्म क्रिया का कार्य हैं। इसी प्रकार सब वृत्तियाँ प्राण के अधीन कार्य करती हैं। जब प्राण का निरोध हो जाता है, तब अन्त-करण की सब वृत्तियों का भी निरोध हो जाता है। यह हठयोग का साधन है। परन्तु सांसारिक स्थूल वृत्तियों के निरोधपूर्वक जो ब्रह्म-भावना युक्त वृत्ति रहती है, वह सब वृत्तियों को दबाकर मन को निर्विकल्प समाधि में ब्रह्मलीन कर देती है और मन के साथ प्राण भी अपने कारण ब्रह्म में लीन हो जाता। यही राजयोग कहलाता है।

प्रत्याहार

विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चिति मज्जनम्।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः।।

—अपरोक्षानुभूति १२१

—"विषयों में आत्मभावना रखकर मन को चितिमात्र आत्मस्वरूप में लीन कर देने को प्रत्याहार समझना योग्य है जिसका मुमुक्षुओं को सदा अभ्यास करना चाहिए।"

पातञ्जल योग दर्शन ने प्रत्याहार की व्याख्या नीचे दिये सूत्र में दी है—

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार
इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

—२, ५९

चक्षु आदि इन्द्रियों के अपने रूपादि विषयों से हट जाने पर चित्त की स्वरूप में स्थिति हो जाती है, इसलिए चित्त का स्वरूप में निरोध करने से इन्द्रियाँ भी विषयों से हटकर चित्त-स्वरूपाकारवत् हो जाती हैं। यह अवस्था प्रत्याहार कहलाती है अर्थात् इन्द्रियों के विषयों से हटकर चित्त में लीन होने को प्रत्याहार कहते हैं। मन इन्द्रियों का अनुगामी बनकर विषयाभिमुख होता है, परन्तु जब वह इन्द्रियों का पीछा छोड़कर आत्मस्वरूप

में लग जाता है, तब इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषयों का त्याग करके मन के पीछे-पीछे खिंचकर उसी में लीन हो जाती हैं।

योगी मन को आत्मा के स्वरूप में लीन करता है, परन्तु ज्ञानी विषयों में ही आत्मा के स्वरूप की भावना करके मन को वहीं स्थिर कर देता है। विषयों में ब्रह्मभावना रखने से बहिर्मुख होते हुए भी मन वीतराग होकर निरुद्ध हो जाता है और वहीं अपने कारण में लीन होने लगता है। मन के निरोध के साथ इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषयों से हट जाती हैं।

धारणा

यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्।
मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता।।

—अपरोक्षानुभूति १२२

—"जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहीं-वहीं ब्रह्म को देखने से वहीं मन के धारण करने को श्रेष्ठ धारणा माना गया है।"

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा । —योगदर्शन ३, १

किसी देश पर चित्त के बाँधने को धारणा कहते हैं।

जहाँ-जहाँ मन की वृत्ति जाती है, वहीं ब्रह्मभावना करके ज्ञानी उसको उसी स्थान पर बाँध देता है।

ध्यान

ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः।
ध्यानशब्देन् विख्याता परमानन्ददायिनी।।

—अपरोक्षानुभूति १२३

—"मैं ब्रह्म ही हूँ'—इस सद्वृत्ति में रहते-रहते परमानन्द देने वाली निरालम्ब स्थिति के उदय होने को ध्यान कहते हैं।"

चित्त में सङ्कल्प-विकल्पों का अभाव होकर जिस निरालम्ब स्थिति अथवा सहजावस्था का उदय होता है, उसे ध्यान कहते हैं। कहा है—

'ध्यानम् निर्विषयं मनः' अर्थात् मन की निर्विषय अवस्था को ध्यान कहते हैं। गीता में भी भगवान् ने ध्यान का साधन इस प्रकार बताया है—

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।

अर्थात् आत्मस्वरूप में मन की स्थिति करके कुछ भी (अन्य विषय का) चिन्तन नहीं करना चाहिए।

नह्यसंन्यस्त सङ्कल्पो योगी भवति कश्चन। —गीता

जिसके सङ्कल्पों का उन्मूलन नहीं हुआ है, वह मनुष्य योगी नहीं हो सकता। उपरोक्त ध्यान की विधि में 'अहं ब्रह्मास्मि' अथवा 'शिवोऽहम्' की भावना से सब सङ्कल्पों को हटा देना चाहिए, तब चित्त के आधार-स्थम्भस्वरूप सब सङ्कल्पों के अस्त हो जाने पर परमानन्दमयी निरालम्ब अवस्था का उदय होता है। धारणा के विषय पर चिन्तन की एकतानता को ध्यान कहते हैं अर्थात् एक ही वृत्ति का एकतान प्रवाह ध्यान कहलाता है—'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (योगदर्शन ३, ३)। किन्तु यहाँ पर आत्मचिन्तन में ब्रह्मभाव की वृत्ति ही ध्यान का विषय है। सङ्कल्प-विकल्पों का अभाव होने के कारण इस स्थिति को निरालम्ब कहा गया है, क्योंकि—'सङ्कल्पात्मकं मनः'—मन को सङ्कल्पात्मक ही कहते हैं।

समाधि

निर्विकारतया वृत्या ब्रह्माकारतया पुनः।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिर्ज्ञान संज्ञकः।।

—अपरोक्षानुभूति १२४

—"वृत्ति के निरालम्ब अथवा निर्विकार हो जाने पर, फिर उसे ब्रह्माकार करके ध्यान की घनावस्था में जब वृत्ति का सर्वथा विस्मरण हो जाता है, उसका नाम समाधि का ज्ञान है।"

प्रपञ्च के सब विषयों की वृत्तियों का सर्वथा अभाव होने पर चित्त में अभावात्मक वृत्ति रह जायेगी अर्थात् सब सङ्कल्पों के अस्त हो जाने

पर चित्त शून्यवत् स्तब्ध-सा हो जायेगा। उस स्थिति में ब्रह्मभावना की वृत्ति को जागृत रखते हुए उसमें तन्मयता लानी चाहिए। क्योंकि—

भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता।
पूर्णवृत्त्या हि पूर्णत्वं तथा पूर्णत्वमभ्यसेत्।।

—अपरोक्षानुभूति १२६

अर्थात् जिस-जिस भाव की वृत्ति रहती है, चित्त उसी-उसी भाव में लीन हो जाता है और तब उसे उसी भाव का ज्ञान होता है। शून्य वृत्ति से चित्त शून्य में लय होगा और पूर्ण ब्राह्मी वृत्ति से ब्रह्मलीनता आयेगी। जब सब वृत्तियों का सर्वथा विस्मरण हो जाता है, उस स्थिति को समाधि कहते हैं। वही ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान है।

संसुप्तवत् शून्यवतप्रतर्क्यं तन्मूलभूतं पदमामनन्ते।।

—भागवत

गहरी सुषुप्ति की शून्य अप्रतर्क्य अवस्था जैसी ही अवस्था वह भी है जिसे मूलभूतपद कहते हैं।

समाधि में आने वाले विघ्न और उनको हटाने का उपाय

समाधौ क्रियमाणे तु विघ्ना आयान्ति वै बलात्।
अनुसन्धानराहित्यमालस्यं भोगलालसम्।।
लयस्तमश्च विक्षेपो रसास्वादश्च शून्यता।
एवं यद्विघ्नबाहुल्यं त्याज्यं ब्रह्मविदा शनैः।।

—अपरोक्षानुभूति १२७, १२८

—"समाधि लगाने पर बलपूर्वक विघ्न आया करते हैं, जैसे अनुसन्धान से च्युति अर्थात् प्रमाद, आलस्य, भोगों की लालसा, निद्रा, तमोगुण, विक्षेप, रसास्वाद और शून्यता। ब्रह्मविद् को चाहिए कि इन विघ्नों के तूफान से शनैः-शनैः बचता रहे।"

योगदर्शन ने इन विघ्नों से बचने के लिए :—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यासः। —१, ३२

'विक्षेपों से बचने के लिए एक तत्व अर्थात् आत्मचिन्तन का अभ्यास करना चाहिए'—ऐसा कहा है।

ब्राह्मी वृत्ति

येषां वृत्तिः समावृद्धा परिपक्वा च सा पुनः।
ते वै सद्ब्रह्मतां प्राप्ता नेतरे शब्दवादिनः।।

कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः।
ते ह्यज्ञानितमा नूनं पुनरायान्ति यान्ति च।।

निमेषार्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना।
यथा तिष्ठन्ति ब्रह्माद्याः सनकाद्याः शुकादयः।।

—अपरोक्षानुभूति १३२, १३३, १३४

—"जिन लोगों की वृत्ति समता को प्राप्त होकर उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते परिपक्व हो गई है अर्थात् निरन्तर आठों पहर अखण्ड रहने लगी है, उन्होंने ही निश्चयपूर्वक सद्ब्रह्म को प्राप्त किया है। शेष सब तो केवल शब्दवादी हैं। उनको ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ, ऐसा समझना चाहिए। जो लोग ब्रह्म-वार्ता में कुशल हैं, परन्तु विषयों में फँसे होने से उक्त ब्राह्मी वृत्ति से हीन हैं, वे अज्ञानीतम मूढ़ बार-बार जन्म लेते हैं। इसलिए जीवनमुक्त महापुरुष उक्त समवृत्तियुक्त ब्राह्मी स्थिति के बिना आधे निमेष भी नहीं रहते, जैसे कि ब्रह्मादि, सनकादि और शुकादि रहते हैं।"

पञ्चदश विकास

सात भूमिकाएँ

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञाः। —योगदर्शन २, २७

यागाभ्यास द्वारा ज्यों-ज्यों पाँचों क्लेशों का क्षय होता जाता है, त्यों-त्यों मेघों के पतले पड़ने पर सूर्य के प्रकाश के अधिकाधिक बढ़ने के समान आत्मा का ज्ञानरूपी प्रकाश भी उत्तरोत्तर बढ़ता है। साधनों के अनुष्ठान से अशुद्धियाँ क्रमशः हल्की होती जाती हैं और ज्ञान की दीप्ति बढ़ती जाती है। जैसे अशुद्धियों का क्षय साधनों का फल है, वैसे ही ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि आत्मसाक्षात्कार का फल है।

ज्ञान की दीप्ति अथवा विवेकख्याति का अर्थ आत्मज्ञान की अभिव्यक्ति है। जैसे सूर्योदय के पश्चात् सूर्य के चढ़ने के साथ-साथ प्रकाश की तेजी भी बढ़ती जाती है, वैसे ही ज्ञान की बढ़ती हुई दीप्ति अन्तःकरण की वृत्तियों के सात्विक परिणाम से अनुभव में आने लगती है। तामसिक और राजसिक वृत्तियों का स्थान धीरे-धीरे सात्विक वृत्तियाँ लेने लगती हैं। तमोगुण रजोगुण में, रजोगुण सत्त्वगुण में लीन होने लगता है और अन्त में सत्वगुण के भी अपने कारण में लीन हो जाने पर गुणातीत आत्मा अपने शुद्ध शिवस्वरूप में चमकने लगता है।

ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ साधक की बुद्धि क्रमशः उत्तरोत्तर ऊँचे स्तरों पर चढ़ने लगती है। इस उन्नति-पथ की यात्रा को सात स्तरों में बाँटा जाता है। ज्ञान के प्रकाश की प्रतिभायुक्त बुद्धि को प्रज्ञा कहते हैं। उक्त सात विभागों के अनुक्रम से प्रज्ञा की सात अवस्थाएँ समझनी चाहिए जिनको भूमिका कहते हैं। उनके नाम ये हैं— (१) शुभ इच्छा (२) शुभ विचारणा (३) तनुमानसा (४) सत्त्वापत्ति (५) असंसक्ति (६) पदार्थ भावनी (७) तुरिया।

शुभ इच्छा

मोक्ष की इच्छा ही शुभ इच्छा है । मनुष्य जब दृश्य के स्वरूप को अच्छी तरह समझ लेता है, उसके भोग में शान्ति और सुख नहीं पाता, इह और परलोक के सब भोगों को अशाश्वत ही नहीं, दुःख रूप भी जान लेता है और उनके उपार्जन, रक्षा और नाश होने पर वियोग में दुःख ही दुःख पाता है, तब उसको दुःखों से मुक्ति पाने की इच्छा उत्पन्न होती है । वास्तव में विषयों के भोग से होने वाली तृप्ति में ही सुख का अनुभव होता है, परन्तु क्या विषयों को भोगकर उनसे किसी की तृप्ति हुई है ? अग्नि में आहुति पड़ने के सदृश भोग-लालसा उलटे अधिक ही बढ़ती जाती है और भोगवासना का उत्तेजित होना ही दुःख है ।

भोगों के प्राप्त होने पर भी लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष के सन्तापों से भारी दुःख होता है और अधिक भोगने का परिणाम भी दुःख देने वाला होता है । इस प्रकार जिसने भोगों के वास्तविक दुःखरूप को समझ लिया है, उसी को उनसे वैराग्य त्रिताप से मुक्त होने की इच्छा होती है ।

आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक-तीनों तापों की निर्मूल निवृत्ति की इच्छा ही वास्तविक शुभ इच्छा है । ऐसी बुद्धि उन मनुष्यों को उदय होती है जिन्होंने चित्त को तमोगुण और रजोगुण से रहित शुद्ध करना आरम्भ कर दिया है, सत्वगुण की शान्ति का अनुभव करके तमोगुण की मलिनता और रजोगुण से उत्पन्न होने वाले विक्षेपों के दुःख को समझ लिया है, जिन्हें संसार के भोगों से किञ्चित् मात्र भी सुख-शान्ति की आशा नहीं रही है और जो परमात्मा को ही शाश्वत सुख-शान्ति का स्थान जानकर उसी को पाने की शुभ कामना करने लगे हैं ।

दुःख के स्वरूप को जानकर उसको हेय समझना चाहिए । फिर उसके हेतु की जड़ काटनी चाहिए, क्योंकि हेय के हेतु का अभाव होने से ही हेय की हानि होगी । हेय की हानि इस प्रकार करनी होगी कि उसका बीज तक भी नष्ट हो जाए जिससे उसकी पुनरावृत्ति की आशङ्का न रहे । तदनन्तर हान का उपाय करना पड़ेगा । इसलिए साधन की इस यात्रा के हेय, हेय-हेतु, हान और हानोपाय से सम्बन्ध रखने वाले चार भाग हैं । काम और राम उक्त मार्ग के दो सिरे हैं । काम को प्रेय और राम को श्रेय कहते हैं, क्योंकि विषय-भोगों की कामनाएँ प्रिय लगती हैं और सबका श्रेय राम को प्राप्त करने में ही है । ये दोनों तीन और छः के सदृश विपरीत हैं, इसलिए कहा है कि राम से मिलने के लिए सब कामनाओं का त्याग करना पड़ता है ।

काम हेय है और राम हेय का हानोपाय है । राम से मिलने की इच्छा अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासा तभी जागती है जब हेय का स्वरूप जान लिया जाता है । इसलिए ब्रह्मजिज्ञासा का उदय होना प्रथम भूमिका है और ब्रह्मज्ञानरूप हानोपाय की प्राप्ति चौथी भूमिका है । प्रथम भूमिका का वेदव्यासजी ने योगदर्शन के भाष्य में 'परिज्ञातं हेयं नास्य पुन: परिज्ञेयमस्ति' – इन शब्दों से वर्णन किया है । अर्थात् हेय को जान लिया, उसको फिर अधिक जानना नहीं रहा, फिर वह मनुष्य संसार के विषय – भोगों में नहीं फँस सकता । तब उसे ब्रह्म – जिज्ञासा उत्पन्न होती है ।

शुभ विचारणा

यह दूसरी भूमिका है । ब्रह्मजिज्ञासा होने पर यह विचार करना चाहिए कि ब्रह्मप्राप्ति के लिए क्या प्रतिबन्ध है अर्थात् हेय का हेतु क्या है ? वेदान्त आत्म – अनात्म के पारस्परिक मिथ्या अध्यास को ब्रह्मज्ञान का प्रतिबन्ध मानता है । योग – दर्शन भी दृष्टा और दृश्य दोनों के संयोग को हेय का हेतु कहता है – 'दृष्टृदृश्ययो: संयोगो हेयहेतु:' (२, १७) और संयोग का हेतु अविद्या है – 'तस्य हेतुरविद्या' (२, २४) । स्थूल और सूक्ष्म शरीरों अथवा पञ्चकोशों में आत्माभिमान का अध्यास एवं आत्मा में अनात्मा का अध्यास अविद्या है । अविद्या की भूमि में अहङ्कार, राग, द्वेष और जीवन – लालसा अथवा मृत्यु से भय रूपी अभिनिवेश की फसल उत्पन्न होती है । ये पाँचों क्लेश कहलाते हैं ।

जब तक अविद्या की खेती हरी रहती है, तब तक द्रष्टा – दृश्य का संयोग नहीं टूटता जो हेय का मूल कारण है । इसलिए द्रष्टा – दृश्य के पारस्परिक संयोग रूपी अध्यास को हटाने के लिए पाँचों क्लेशों का क्षीण होना आवश्यक है । इस भूमिका का व्यास भगवान् ने अपने भाष्य में इस प्रकार वर्णन किया है – 'क्षीणा हेय हेतवो न पुनरेतेषां क्षेतव्यमस्ति' – अर्थात् हेय के हेतु क्षीण हो गये हैं और फिर उनका कोई अंश क्षीण करने योग्य नहीं रहा । हेय के कारणों के क्षीण होने पर साधक अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का चिन्तन करने में समर्थ होता है, इसलिए इस भूमिका को शुभ विचारणा ठीक ही कहा है क्योंकि इस भूमिका को विचार अर्थात् आत्मचिन्तन की भूमिका समझना चाहिए ।

तनुमानसा

यह तीसरी भूमिका है । मन के स्वरूप में तन्मय होने पर इस भूमिका का उदय होता है । स्वरूप का साक्षात्कार होने पर द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति हो जाती है, दृश्य

से उसके संयोग का अभाव हो जाता है और हेय का हान होता है, जैसा कि योगदर्शन में कहा है – 'तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्' (२, २५)। अर्थात् अविद्या का अभाव होने पर संयोग का अभाव और हेय का हान होता है। यह द्रष्टा की कैवल्य अवस्था है। इस अवस्था में गुणों से अमिश्रित भूमिका रहती है। स्वरूपस्थिति से आत्मसाक्षात्कार होता है, बुद्धि पर ज्ञान के संस्कार पड़ने लगते हैं और अविद्या के संस्कार नष्ट होने लगते हैं। व्यास भगवान् ने इस भूमिका का वर्णन इस प्रकार किया है – 'साक्षात् कृतं निरोध समाधिना हानम्' अर्थात् चित्त की वृत्तियों के निरोध द्वारा समाधि से अविद्या के हान का साक्षात्कार होता है।

सत्वापत्ति

यह चौथी भूमिका है। इस भूमिका में आत्मचिन्तन के कारण शुद्ध सत्त्व में स्थिति हो जाती है। इसके अनुभव को विवेकख्याति कहते हैं क्योंकि, 'मैं देहादि हूँ' – यह मिथ्या ज्ञान जब दग्धबीज हो जाता है, तब हेय संसार के संस्कारों में फिर अंकुरित होने की शक्ति नहीं रहती और बुद्धि अविद्यादि क्लेशों के मल से निर्मल होकर ऋतम्भरा प्रज्ञायुक्त हो जाती है। तब उसमें आत्मज्ञान का स्रोत उमड़ने लगता है। यही हान का उपाय है क्योंकि इससे हेय के संस्कार नष्ट हो जाते हैं। कहा है –

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः – योगदर्शन २, २६

अर्थात् मिथ्या ज्ञानरहित विवेकख्याति हान का उपाय है। व्यास भगवान् ने योगदर्शन के भाष्य में इस अवस्था का इन शब्दों में वर्णन किया है – 'भावितो विवेरव्याति रूपो हानोपायः' – अर्थात् तब साधक समझ लेता है कि मैंने विवेकरहित रूप हान का उपाय प्राप्त कर लिया है।

उक्त चारों भूमिकाएँ साधन-साध्य हैं, इसलिए कार्यविमुक्ति की अवस्थाएँ मानी जाती हैं। परन्तु अन्तिम तीन भूमिकाएँ जिन का वर्णन आगे किया जाता है, साधन-साध्य न होने के कारण चित्त-विमुक्ति की स्वाभाविक अवस्थाएँ हैं। ज्ञान किसी क्रिया का फल नहीं है, केवल कषायों को क्षीण करना ही क्रिया-साध्य है। अशुद्धियों को न रहने पर ज्ञान का विकास स्वतः होने लगता है। क्या बादल हटने पर सूर्य को चमकाने के लिए किसी क्रिया की आवश्यकता रहती है ? इसलिए अन्तिम तीन भूमिकाएँ जीवनमुक्ति की अवस्थाएँ कहलाती हैं।

असंसक्ति

पाँचवीं अथवा ज्ञान की प्रथम भूमिका है। इसकी परीक्षा असंसर्ग होना है जिसको भगवान् ने जितसङ्गदोष कहा है। इस अवस्था में बुद्धि तीनों गुणों के प्रभाव से मुक्त हो जाती है। यद्यपि तीनों गुण अपना-अपना कार्य करते रहते हैं, परन्तु उनमें परिणाम होते रहने पर भी मनुष्य उनसे विचलित नहीं होता।

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति।

-गीता १४, २२

अर्थात् गुणों के प्रवृत्त होने पर मनुष्य उनसे द्वेष नहीं करता और उनकी निवृत्ति की भी इच्छा नही करता। ऐसी बुद्धि को चरिताधिकारा बुद्धि कहते हैं क्योंकि उस पर से गुणों का अधिकार हट जाता है और फिर वे उस पर अपना अधिकार नहीं जमा सकते। ऐसे महापुरुष संसार में रहकर सब कार्य करते रहित हैं, परन्तु जनक प्रभृति के सदृश जगत् में रहते हुए भी 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' निर्लिप्त रहते हुए अनासक्त भाव से संसार के सब व्यवहार चलाते रहते हैं। साधारण लोग उनके अन्तर्भाव को नहीं जान सकते, क्योंकि जीवनमुक्ति के लक्षण स्वयं-संवेद्य होते हैं। शरीरादि की चेष्टा से उसकी झलक दीख जाए तो दीख जाए।

पदार्थभावनी

छठी अथवा ज्ञान की दूसरी भूमिका है। इसमें चित्त आत्म-तत्त्व में लगा रहने लगता है, तीनों गुण अपने कारण में लयाभिमुख होकर कारण सहित अस्त होने लगते हैं, फिर उनका उदय नही होता। जीवनमुक्त की यह दशा स्वप्नवत् है।

तुरिया

अन्तिम भूमिका है। इस में मनुष्य आत्मनिष्ठ हो जाता है। उसमें सांसारिक भेद नहीं रहता, वह केवल निर्मल स्वयंज्योति आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है। यह दशा सुषुप्तिवत् है।

सगुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते, ब्रह्मभूयाय कल्पते।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः। शान्ति :

× × ×

आश्रमों की सूची

- **श्री नारायण कुटी**
  संन्यास आश्रम, टेकरी रोड, देवास (म.प्र.)
  455 001 फोन (07272) 23891, 31880

- **स्वामी विष्णुतीर्थ साधना सेवा आश्रम**
  12/3 जोबट कोठी, जूना पलासिया,
  इन्दौर (म.प्र.) 452018
  फोन (0731) 566386

- **स्वामी शिवोम् तीर्थ आश्रम**
  1238, आर.टी. 97, स्पैरो बुश,
  न्यूयार्क 12780, यू.एस.ए.
  फोन : 011-914-856-1121

- **देवात्म शक्ति सोसाइटी आश्रम**
  74, नवाली ग्राम, पोस्ट दहिसर ग्राम,
  व्हाया मुम्ब्रा, -पनवेल रोड, जिला ठाणे,
  महाराष्ट्र फोन (022) 7411400

- **स्वामी शिवोम् तीर्थ गुरु-सुधा महायोग आश्रम**
  ग्वारी घाट, जबलपुर, (म.प्र.)
  पिन-482008, फोन-(0761)665027

- **स्वामी विष्णु मीर्थ ज्ञान-साधना आश्रम**
  खेड़ी-गुजर रोड गन्नौर, जिला सोनीपत, हरियाणा
  फोन (01264) 62150, 61550 पी.पी.

- **योगश्री पीठ**
  मुनि-की-रेती, पो. शिवानन्द नगर,
  ऋषिकेश उत्तराखण्ड-249 192
  फोन (0135) 430467

- **स्वामी शिवोम् तीर्थ कुण्डलिनी योग सेन्टर**
  दुर्गा मन्दिर, जिलाधीश निवास
  परिसर, छिंदवाड़ा (म.प्र.) 48001
  फोन (07162)42640

- **स्वामी शिवोम् तीर्थ आश्रम**
  मुखर्जी नगर, रायसेन (म.प्र.)
  फोन (07482) 22294

- **श्री नारायण निवास आश्रम**
  स्वामी विष्णु तीर्थ नगर,
  मछली फार्म के सामने,
  आगरा-मुम्बई रोड, मुरैना (म.प्र.)
  फोन (07532) 20717

- **शिवोम् कृपा आश्रम**
  शिवोम् नगर, तेनबन्दा,
  दरगाह के पास,
  चित्तूर (आन्ध्र प्रदेश) 517004
  फोन (08572) 49003

— o —

श्री 1008 स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज द्वारा रचित साहित्य

1.	देवात्म शक्ति (अंग्रेजी)	100 – 00
2.	सौन्दर्य लहरी	200 – 00
3.	शक्तिपात (कुण्डलिनी महायोग)	60 – 00
4.	शिवसूत्र – प्रबोधिनी	20 – 00
5.	साधन संकेत	10 – 00
6.	आत्म प्रबोध	150– 00
7.	अध्यात्म विकास	120– 00
8.	वैदिक योग परिचय	150 – 00
9.	प्राण तत्त्व	40 – 00
10.	उपनिषद् वाणी	65 – 00
11.	प्रत्यभिज्ञा – हृदयम्	10 – 00
12.	गीता तत्त्वामृत	75 – 00
13.	पातंजल – योग दर्शन	20 – 00

श्री 1008 ब्रह्म योगेन्द्र विज्ञानी जी महाराज द्वारा रचित साहित्य

1.	महायोग विज्ञान	200 – 00

श्री 1008 स्वामी शिवोम्तीर्थ महाराज द्वारा रचित साहित्य

1.	साधन पथ	20 – 00
2.	श्री नारायण उपदेशामृत	20 – 00
3.	गुरु परम्परा	25 – 00
4.	योग विभूति	110 – 00
5.	शक्तिपात प्रश्नोत्तरी	25 – 00
6.	शक्तिपात पथ प्रदर्शिका भाग – 1	15 – 00
7.	शक्तिपात पथ प्रदर्शिका भाग – 11 (कुण्डलिनी सिद्ध महायोग)	40 – 00
8.	शक्तिपात पथ प्रदर्शिका भाग – 111 (अल्हादिनी सिद्ध महायोग)	80 – 00
9.	परम प्रेमालोक (नारद भक्ति सूत्र)	30 – 00
10.	मुक्त चिन्तन	25 – 00
11.	श्री विष्णुतीर्थ सद्दर्शन	35 – 00

12.	अन्तरावलोकन	75 - 00
13.	पातंजल योग दर्शन	80 - 00
14.	श्री गुरु गीता गुटका	10 - 00
15.	श्री गुरु गीता (व्याख्या)	30 - 00
16.	श्री गुरु चालीसा (व्याख्या)	15 - 00
17.	साधन निर्देशिका भाग - 1	15 - 00
18.	साधन निर्देशिका भाग - 11	15 - 00
19.	साधन निर्देशिका भाग - 111	15 - 00
20.	हृदय मंथन भाग - 1	40 - 00
21.	हृदय मंथन भाग - 11	60 - 00
22.	हृदय मंथन भाग - 111	90 - 00
23.	चिति लीला (शक्तिपात विज्ञान)	60 - 00
24.	अन्तवीर्थी	60 - 00
25.	सोपान	60 - 00
26.	पुनरूदय	60 - 00
27.	साधन शिखर	200 - 00
28.	अन्तिम रचना	100 - 00
29.	मानस में गुरु तत्त्व	15 - 00
30.	साधना डायरी	40 - 00
31.	श्री सुखमणि साहिब (टीका) श्री गुरु ग्रंथ साहिब	40 - 00
32.	श्री जपुजी साहिब (टीका) श्री गुरु ग्रंथ साहिब	40 - 00
33.	श्री आनन्द साहिब (टीका) श्री गुरु ग्रंथ साहिब	30 - 00
34.	आसा दी वार (टीका) श्री गुरु ग्रंथ साहिब	30 - 00
35.	श्री गुरु स्तवन	20 - 00
36.	भजन - अन्तरव्यथा	20 - 00
37.	भजन - प्रसाद	20 - 00
38.	भजन - तरंग	20 - 00
39.	भजन - प्रत्यागमन	40 - 00
40.	भजन - सन्तप्रसाद	40 - 00
41.	उद्‍बोधन (भजन)	20 - 00

42. भजन - गुरुदेव 20 - 00
43. भजन - शिवोम् वाणी भाग - 1 (चामुण्डा के भजन) 50 - 00
44. भजन - शिवोम् वाणी भाग - 11 50 - 00
45. गुरुदेव की कलम से

हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवाद

1. A Guide to Shatipat 45-00
2. Giyana Kiran 25-00
3. A Guide to Shatipat Initiation 10-00
4. Churning of heart -I (हृदयमंथन) 100-00
5. Churning of heart -II (हृदयमंथन) 180-00
6. Churning of heart -III (हृदयमंथन) 200-00
7. Trak of Spirituality (साधन पथ का अनुवाद) 25-00
8. The Last Composion अंतिम रचना अनुवाद) 350-00
9. Sadhan Shikhar 250-00
10. The Scond Dawn (पुनरूदय अनुवाद) 100-00

1. योगेन्द्र चरित्र (श्रीराम निवास शर्मा) 120 - 00
2. अध्यात्म कथा (वल्मदास मेहता) 45 - 00
3. ब्रह्म यात्रा (वल्मदास मेहता) 50 - 00
4. पंचामृत (वल्मदास मेहता) 25 - 00
5. कर्मयोगी साधु (वल्मदास मेहता) 20 - 00
6. श्री विष्णु तीर्थ आध्यात्मिक तत्त्व दर्शन 100 - 00
7. गुरु प्रसाद भजन - I (स्वामी गोपाल तीर्थ) 30 - 00
8. गुरु प्रसाद भजन - III (स्वामी गोपाल तीर्थ) 40 - 00
9. गुरु प्रसाद भजन - IV (स्वामी गोपाल तीर्थ) 45 - 00
10. गुरु देव के संग (स्वामी शिवानी भारती तीर्थ) 150 - 00
11. स्वामी विष्णु तीर्थ वन्दे परम गुरुम् (स्वामी शिवानी भारती तीर्थ) 100 - 00

—— O ——

योग श्री पीठ ट्रस्ट प्रकाशन
मुनि-की-रेती, ऋषिकेश (उत्तराखंड)